न्यायदर्शनम्

गौतममुनिप्रणीतम्

स्वर्गवासि श्री स्वा० दर्शनानन्द सरस्वति कृत

भाषानुवादसहितम्

तदेव

प्रकाशयित्री श्री पण्डित शङ्करदत्त शर्मणा

[illegible]

स्वकीये

मुरादाबादस्थ "शर्मा मशीन प्रिंटिंग" यन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितम्.

द्वितीयवार १००० | आषाढ़ कृष्ण पञ्चः सं० १९७५ वि० | मूल्य १।) सजिल्द १॥)

Sharma Machine Printing Press Moradabad

प्रिय पाठक ! न्यायदर्शन का द्वितीय संस्करण आपकी सेवा में उपस्थित होता है, प्रथमावृत्ति में अनेक त्रुटियाँ रह गई थी, भूमिका भी नहीं थी, और कहीं २ मूल भी रह गया था अब की बार उसे ठीक कर दिया गया है पर मूल ग्रन्थ में (उर्दू भाष्य में) जो कहीं २ निरर्थक लेख है उसे संक्षिप्त कर दिया है, आशा है इसे भी प्रथमावृत्ति की भांति आर्य महाशय ग्रहण कर मेरे उत्साह को बढ़ावेंगे।

इसके संशोधन में पं० मङ्गलदेवजी हेड पण्डित हिन्दू हाई स्कूल मुरादाबाद से अत्यन्त सहायता मिली है। इसलिये हम उनके कृतज्ञ हैं और पंडितजी को अनेक धन्यवाद देते हैं क्योंकि उन्होंने अपना अमूल्य समय देकर अत्यंत उपकार किया है।

(नोट) कागज के अत्यन्त मंहगा होने पर भी हमने मूल्य नहीं बढ़ाया है।

विनीत—

पं० शंकरदत्त शर्मा,

अध्यक्ष—"वैदिक-पुस्तकालय"

मुरादाबाद यू. पी.

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

संसार में प्रत्येक मनुष्य को सुख दुख का अनुभव होता रहता है, और सब इसी के लिये प्रयत्न करते हैं कि वे दुख को छोड़ कर सुख प्राप्त करें। परन्तु सुख प्राप्ती की इच्छा और दुख से घृणा होने पर भी नतो प्रत्येक को सुख ही मिलता है और नाही दुख से मुक्ति मिलती है। इस अद्भुत दशा को देख कर अर्थात् "सुख के प्राप्त करने और दुख से बचने का उद्योग करते हुए भी यह असफलता क्यों हुई। जब इस के कारणों पर विचार किया जाता है तो पता लगता है कि मनुष्य की सारी शक्ति परिमित हैं। अतः उस का ज्ञान भी परिमित है जिस वस्तु का सम्बन्ध होता है वह इन्द्रियों या मन द्वारा होता है। और बहुत सी वस्तु ऐसी हैं जो इन साधनों से ज्ञात नहीं होतीं उन के ज्ञात होने का साधन बुद्धि है। यदि इन तीनो साधनों (मन, बुद्धि, इन्द्रिय) में से किसी एक में विकार या अन्तर आजावे तो ज्ञान में भी अवश्य विकार या अन्तर आजावेगा। जब ज्ञान में विकार हुआ तो उस का उपयोग भी ठीक नहीं होगा। उपयोग के ठीक न होने से उस का परिणाम या फल भी अवश्य उलटा होगा। इस से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक कार्य के फल को यथार्थ रूप से प्राप्त करने के लिए उसका सद् उपयोग करना है और उपयोग ठीक करने के लिये ज्ञान का यथार्थ होना आवश्यक है।

जहां किसी वस्तु का ज्ञान विपरीत होगा वहां उसका फल भी विपरीत होगा। अतः मनुष्य का परम कर्तव्य है कि वह प्रत्येक वस्तुको उपयोग में लाने से पूर्व उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के साधनों को प्राप्त करे। क्योंकि जिस सराफने सोने की परीक्षा के लिए कसौटी नहीं लीहै वह सोनेकी यथार्थ परीक्षा करनेमें असमर्थ है, ऐसा सराफ अपने व्यापार में लाभ नही उठा सकता और न वह सर्राफ कहलानेका अधिकारी है। मनुष्य शब्द का अर्थ भी यही है कि उसमें विचार हो। और जिसका उद्देश्य अपने जीवनमें विचारानुसार संसार के बाजार में वस्तुओं का खरीदना है। उनमें से जो वस्तु बिना विचारे खरीदी जाती है उनसे हानि भी बहुत

होती है। पर जो वस्तु विचार कर खरीदी जाती है उस में हानि की बहुत कम सम्भावना है। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने आत्मिक कर्तव्यों को पूरा करने के लिए बिना विचारे काम करेगा तो अवश्य वह दुख का अनुभव करेगा। और यदि वह भले प्रकार अन्वेषण करके कार्य करेगा तो अवश्यही मुक्ति प्राप्त होगी। यथार्थतथ्य ज्ञान प्राप्ति के साधनो में न्याय शास्त्र सब से श्रेष्ठ और आवश्यकहै जो मनुष्य न्यायदर्शन को नही जानता वह किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नही प्राप्त कर सकता।

जो मनुष्य न्याय शास्त्रको ठीक प्रकार से जान जाता है उसको कोई चालाक धोका नही देसकता सांप्रदायिक तथा वैज्ञानिक विवादों में जो बातें साधारण भी दृष्टि में कठिन मालूम होती हैं वह इस दर्शन के ज्ञाता को अति सुगम हैं और जिन प्रश्नो का उत्तर देने में संसार के बडे २ मत चकराते हैं उसका उत्तर इस विज्ञान का ज्ञाता बड़ी सुगमता से दे सकता है। सम्प्रति आत्मिक सिद्धान्तों के ज्ञाना भावा से मनुष्यों में अनेक प्रकार के झगड़े होरहे हैं। और इस दर्शन के न जानने से वे झगड़े समय समय पर विकट रूप धारण करलेते हैं। अतः हमारा निश्चय होगया है कि यथाशक्ति पुराने ऋषियों के विचारों को भाषा में अनुवाद करके देशवासियों को यथार्थ साधनों का ज्ञान कराने का उद्योग करेंगे। इन दर्शनों का अनुवाद क्रमशः न्याय दर्शन से प्रारम्भ होकर आपकी दृष्टि में आता रहेगा। यदि एक व्यक्ति को भी इसके अध्ययन से पूरा लाभ हुआ तो अनुवादक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

दर्शनानन्द सरस्वती

॥ ओ३म् ॥

न्यायदर्शन भाषानुवाद

(प्रश्न) न्याय किसे कहते है ।

(उत्तर) प्रमाणों से किसी वस्तु का निर्णय करना न्याय कहलाता है ।

(प्रश्न) प्रमाण किसे कहते हैं ।

(उत्तर) अर्थ के यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं और प्रमा के वास्ते आत्मा को जिन कारणों की आवश्यकता होतीहै वह प्रमाण कहलाते हैं ।

(प्रश्न) प्रमाण से क्या लाभ है ।

(उत्तर) विना प्रमाणके किसी वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता और विना ज्ञान के किसी काम के करने और छोड़ने में मनुष्य परिश्रम नहीं कर सका इस कारण कार्य में प्रवृति कराने वाला प्रमाण है ।

(प्रश्न) प्रमाण से ज्ञान प्राप्त करने के वास्ते किन वस्तुओं की आवश्यकता है ।

(उत्तर) प्रत्येक अर्थ के जानने के वास्ते चार वस्तु होती हैं प्रथम प्रमाता अर्थात् वस्तु को जाननेवाला दूसरा प्रमाण जिसके द्वारा वस्तु को जान सकें तीसरा प्रमेय अर्थात् वह वस्तु जो प्रमाण के द्वारा जानी जावे । चौथे प्रमिति अर्थात् वह ज्ञान जो प्रमाता प्रमाण और प्रमेय के सम्बन्ध से उत्पन्न हो ।

(प्रश्न) अर्थ किसे कहते हैं ।

(उत्तर) जो सुख में सुखका कारण और दुःख में दुःख का कारण हो उसे अर्थ कहते हैं ।

(प्रश्न) प्रवृति किसे कहते हैं । (उत्तर) जब प्रमाता अर्थात् जानने वाला किसी को जान लेता है तो उस के त्यागने या प्राप्त करने के वास्ते जो परिश्रम करता है उस परिश्रम को प्रवृत्ति कहते हैं । (प्रश्न) प्रमाण से चीजों की सत्ता का ज्ञान होता है उसके अभाव के ज्ञान का क्या कारण है । (उत्तर) जो प्रमाण विद्यमान

वस्तुओं के अस्तीत्व को प्रत्यक्ष करता है वही प्रमाण वस्तुओं के अभाव का ज्ञान कराता है। (प्रश्न) न्याय दर्शन में कितने पदार्थ माने जाते हैं।

[उत्तर] प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टांतसिद्धान्ताऽवयवतर्कनिर्णय वादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥१॥

प्रमाण; संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद शास्त्रार्थ वह जल्प कहलाता है वह वाद जो हार जीत के लिये युक्ति शून्य हो वितन्डा वह बहस जिस में एक पक्ष वाला अपना कोई सिद्धान्त न रखता हो केवल दूसरों के सिद्धान्त का खन्डन करे हेत्वा भास छल अर्थात् धोखा, जाति अर्थात् निग्रह स्थान हारने का चिन्ह इन सोलह पदार्थों के तत्व ज्ञान से मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

(प्रश्न) ज्ञान सदा प्रमेय का होगा और उसी से मुक्ति होगी शेष्य सब कारण उसके साधन हैं इस वास्ते सब से प्रथम प्रमेय का वर्णन करना चाहिये था कि जिस के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो प्रमाण का पहिले वर्णन करना हमारी सम्मति में ठीक नहीं है।

(उ०) क्योंकि सदा सोना खरीदने से पहिले कसोटीका पास होना आवश्यक है और विना कसोटी के सोने के खरे खोटे होने का ज्ञान नहीं हो सक्ता। इसीप्रकार प्रमाण के विना प्रमेयका ज्ञान नहीं होसक्ता ऐसे ही प्रमाण के विना यह ज्ञान नहीं होसक्ता और न यह ज्ञान है कि ये प्रमेय आत्मा के लिये लाभ दायक है अथवा हानि-कारक है। इस कारण सबसे पूर्व प्रमाण का वर्णन किया है।

(प्र०) प्रमाण और प्रमेयके विना अन्य पदार्थों के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। क्यों कि सम्पूर्ण पदार्थ जो संसारमें विद्य मान हैं वह सब प्रमेय के अन्तर्गत आजाते हैं।

(उ०) क्यों कि संसार में दुःख और सुख का अनुभव मनको होता है। इस लिये किसी वस्तु के देखने से पहले यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि यह वस्तु सुख अथवा दुःख का कारण है और ऐसा ही ज्ञान संशय कहाता है अतएव संशय कावर्णन आवश्यक है इसके निवृत्यर्थनिर्णयकी आवश्यक्ताहै।

(प्र०) पुनः प्रयोजन क्यों कहा!।

(उ०) यदि निर्णय करनेका कोई प्रयोजन नहीं हो तो कोई बुद्धिमान तो क्या कोई मूर्ख भी इतना परिश्रम नहीं करेगा। मनुष्यसे प्रत्येक कर्म कराने वाला प्रयोजन ही सबसे मुख्य है जब मनुष्य दुःख से छूटना और सुख को प्राप्त करना अपना प्रयोजन नियत करलेता है तब उसके कारणकी खोज करता है जब प्रयोजन ही न हो तो किसके पूर्ण करनेके लिये विद्यार्थी पनका कष्ट सहन किया जाय। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके निर्णयार्थ आवश्यकथा, उसका वर्णन महात्मा गौतम जीने न्याय दर्शन में कर दिया है। इन पदार्थों का विभाग व वर्णन भलीप्रकार इस ग्रन्थ में आजायगा महात्मा गौतम जी के न्याय दर्शन का प्रथम सूत्र मूल और शेष सब सूत्र उसकी व्याख्या हैं जो मनुष्य इस दर्शन को पढ़ना चाहें उनको इन तीन बातों का ध्यान करना उचित है।

प्रथम तो उद्देश्य, अर्थात् किसी वस्तुका नाम वर्णन कियाजाताहै तदनन्तर उसका लक्षण किया जाता है पुनः लक्षण की परीक्षा करी जाती है, अर्थात् लक्ष्यमें लक्षण घटता है अथवा नहीं। और यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जब परीक्षा की जाती है तब उसमें तीन प्रकार के सूत्र आते हैं। १ पूर्वपक्ष, २ उत्तरपक्ष, ३ सिद्धान्त।

(प्र०) उद्देश्य किसे कहते हैं (उ०) जब किसी वस्तु का नाम बतलाया जाय उसे उद्देश्य कहते हैं, जैसे किसी ने कहा कि पृथ्वी है? (प्र०) लक्षण किसको कहतेहैं। (उ०) जो गुण एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करदे अथवा दूसरों को इससे विभिन्न करदे वह लक्षण कहाता है।

प्र०-परीक्षा किसे कहते हैं। (उ०) किसी वस्तुका लक्षण उस वस्तु में विद्यमानता के लिये (जांच) कीजाती है और यह देखा जाता है कि इस लक्षण में कोई दोष तो नहीं? उसे परीक्षा कहते हैं

(प्र०) लक्षण में जो दोष होते हैं वे कितने प्रकार के होते हैं।

(उ०) तीन प्रकार के, प्रथम १ अतिव्याप्ति अर्थात् वह गुण जो कि अन्य वस्तुओं में भी देखा जाय। जैसे किसी ने कहा गौ किसे कहते हैं दूसरे ने कहा—सींग वाले को गौ कहते हैं अब यह लक्षण प्रत्येक सींग वाले व्यक्ति में वर्तमान है। अतः यह लक्षण अति व्याप्ति होगया अर्थात् लक्ष्य व्यक्ति से अन्यों में भी चला गया॥ द्वितीय अव्याप्ति अर्थात् वह गुण जो गुणीमे विद्यमान न हो, जैसे कोई मनुष्य पूँछे अग्नि किसे कहते हैं उत्तर मिले कि जो भारी गुरु

हो क्योंकि अग्नि में गुरुत्व नहीं अतः यह लक्षण भी उचित नहीं।
तृतीय (३) असम्भव जैसे किसी ने पूँछा कि अग्नि किसे कहते हैं
तो दूसरे ने कहा कि जिस में शीतलता हो क्यों कि अग्नि में शैत्य
नहीं होता अतः यह लक्षण भी युक्त नहीं।

इन तीन (३) प्रकार के दोषों में कोई भी लक्षण हो तो वह
लक्षण ठीक नहीं होगा।

(प्र०) तत्त्व ज्ञान और दुख में कोई विपरीतता नहीं तो तत्त्व
ज्ञानसे मुक्तिकिस प्रकार से हो सक्ती है और तत्त्वज्ञान के होते ही
मुक्तिहो जाती है अथवा कुछ काल के पश्चात्—

[उ०]–दुखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरो ।
त्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

अर्थ—तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है और मिथ्या
ज्ञान से राग द्वेषादि दोषों का नाश हो जाता है, दोषों के नाश से
प्रवृति का नाश हो जाता है प्रवृत्ति के नाश होने से कर्म बन्द हो
जाते हैं कर्म के न होने से प्रारब्ध का बनना बन्द हो जाता है।
प्रारब्ध के न होने से जन्म मरण नहीं होते और जन्म मरण ही न
हुए तो दुःख सुख किस प्रकार हो सक्ता है। क्योंकि दुःख तब ही
तक रह सक्ता है जब तक मन है। और मन में जब तक राग द्वेष
रहते हैं तब तक ही सम्पूर्ण काम चलते रहते हैं। क्योंकि जिन
अवस्थाओं में मनही न विद्यमान हो उनमें दुःख सुख हो ही नहीं
सकता। क्योंकि दुःख के रहनेका स्थान मनहै। मन जिस वस्तु को
आत्मा के अनुकूल समझता है उसके प्राप्त करने की इच्छा करता
है। इसीका नाम राग है। यदि वह जिस वस्तु से प्यार करता है
यदि मिल जाती है तो वह सुख मानता है। यदि नहीं मिलती तो
दुःख मानता है। जिस वस्तु की मन इच्छा करता है उस के प्राप्त
करने के लिये दो प्रकार के कर्म होते हैं। या तो हिंसा व चोरी
करता है या दूसरों का उपकार व दान आदि सुकर्म करता है।
सुकर्म्म का फल सुख और दुष्कर्मों का फल दुःख होता है परन्तु
जब तक दुःख सुख दोनों का भोग न हो तब तक मनुष्य शरीर नहीं
मिल सक्ता। (प्रश्न) इस में क्या प्रमाण है कि जीवात्मा किसी
समय में दुःख से मुक्त हो सक्ता है हम दुःख को जीवात्मा का स्व-
भाविक धर्म मानते हैं। (उत्तर) क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में जब कि
मन और इन्द्रिय कार्य्य नहीं करते उस समय दुःख व सुख ज्ञात

नहीं होते इससे विदित होता है कि दुःख व सुख जीवात्मा का स्वभाविक धर्म नहीं अतः जो स्वभाविक धर्म नहीं उस का नाश होना सम्भव है, (प्रश्न) जीव का स्वभाविक धर्म दुःख क्यों नहीं (उ०) इस लिये कि वह प्रतिक्षण वर्त्तमान नहीं रहता क्योंकि जो ? स्वाभाविक है वह कभी भी दूर नहीं हो सकता है। (प्र०) प्रमाण कितने प्रकार के होते हैं।

[उ०] प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥३॥

अर्थ—प्रत्यक्ष, अर्थात् जो इन्द्रियों के द्वारा अनुभव हो दूसरा अनुमान जो अटकल व सम्बन्ध से जाना जाय तीसरा उपमान जो (मिसाल) दिखाकर सदृशता बताई जाय और चतुर्थ शब्द जो विद्वान् (आप्त) मनुष्य के उपदेश से जाना जाय।

(प्रश्न) हम प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण को नहीं मानते क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना और प्रमाण ठीक नहीं मिलते प्रायः (भ्रान्ति) भूल होही जाती है। यदि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण को स्वीकार करोगे तो बहुत से पदार्थों का ज्ञान न होसकेगा। यथा—वे पदार्थ जो कि अत्यन्त समीपहैं जैसे आंखमें सुर्मा और बहुत दूरके पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सक्ता इस लिये अन्य प्रमाणों का मानना आवश्यक है यदि प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मान लिये जांय तो क्या हानि है। (उ०) अनुमान भी प्रत्यक्ष पदार्थों का होता है अनुमान से साधारण मनुष्य कार्य कर सकते हैं। प्रत्यक्ष मनुष्य व पशुओं के लिये एक तुल्य समान है इस लिये जो मनुष्य धर्म का निर्णय करना चाहते हैं उन के लिये तो यह दोनों प्रमाण व्यर्थ हैं क्यों कि जीवात्मा मन बुद्धि आदि इन्द्रियों से अनुभव न होने के कारण प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सक्ता और प्रत्यक्ष न होने पर अनुमानभी नहीं हो सकता इस लिये शब्द प्रमाण की आवश्यकता है (प्रश्न) प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं और उस का क्या लक्षण है।

[उ०] इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदे-
श्यमव्यभिचारि वयवसायात्मकं प्रत्यक्षं ॥ ४ ॥

इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान पैदा हो और जिसमें व्यभिचार दोष न हो और सन्देह भी न होउसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

(प्रश्न) इतना पर्याप्त है कि जो ज्ञान पदार्थ और इन्द्रियों के

सम्बन्ध से पैदा हो वह प्रत्यक्ष है इस में लक्षण को अधिक बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। (उ०) यदि इतना कहा जावे कि जो ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से पैदा हो वह प्रत्यक्ष है तो भ्रांति को भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा जैसे कि दूर से बालू को पानी जान लेने में बालू और आंख का सम्बन्ध है दूरसे आंख उस को पानी अनुभव करती है किन्तु निकट जाने पर बालु ज्ञात् होता है तो उस अनिश्चित् ज्ञान (भ्रांति) को प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा इस वास्ते बतला दिया कि वह ज्ञान व्यभिचारादि दोष रहित हो (प्र०) इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान पैदा होगा वह तो प्रमति कहलायगा प्रमाण कैसे हो सक्ता है (उ०) इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान पैदा होगा वह प्रत्यक्ष ज्ञान है और उस का कारण अर्थात् उसके होने का साधन इन्द्रियां प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रश्न—प्रत्यक्ष कितने प्रकार का होता है।

उत्तर—पांचज्ञान इन्द्रियों के कारण से पांच प्रकार का प्रत्यक्ष होता है चक्षु से होने वाला, प्रत्यक्ष जिस से वस्तु का आकार लम्बाई चौड़ाई इत्यादि का ज्ञान होता है—द्वितीय श्रोत्र प्रत्यक्ष कानों के द्वारा होता है—जिस में शब्द के अच्छे बुरे और उस के भाव का ज्ञान होता है-तृतीय घ्राण प्रत्यक्ष जो नास का द्वारा होता है-इस से सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान होता है—चतुर्थ रसना, जिह्वा से जो प्रत्यक्ष होता—जिस के द्वारा कड़वे मीठे कटु इत्यादिक रसों का ज्ञान होता है पञ्चम—(त्वचा)—जो प्रत्यक्ष खाल के द्वारा होताहै जिसको छूना कहते हैं उस से गर्मी-शर्दी-नर्म इत्यादिक का ज्ञान होता है। (प्रश्न) क्या प्रत्यक्ष प्रमाण से जो ज्ञान होता है वह संदिग्ध भी होता है-जिस से यह लक्षण सिद्ध हो कि यह ज्ञान निश्चित है। (उ०)दूर से किसी वृक्षके ठुन्ट को देखकर बहुधा विचार होता है कि वह मनुष्य है वा ठुंट? इसी प्रकार भ्रांतिभी इन्द्रियोंके सम्बन्ध ही से होती है इस लिये जो ज्ञान निश्चित अर्थात् निर्भ्रांत जिसमें भ्रान्ति का लेश न हो इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु का होता है और उस में फर्क नहीं पाया जाय और वह नाम सुन कर स्मृति सरीखा नहो तो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और इन्द्रियें प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती हैं।

प्रश्न—अनुमान किसे कहते हैं उसका लक्षण क्या है।

उत्तर—अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं।

पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च ॥५॥

अर्थ—जिस ज्ञान की वास्तविक दशा प्रत्यक्ष द्वारा परस्पर सम्बन्ध को जान कर, एक को देख कर दूसरे से जानी जाती है वह अनुमान कहलाता है।

प्रश्नः—अनुमान कितने प्रकार का है ?

उत्तरः—अनुमान तीन प्रकार का होता है पहला "पूर्ववत्" जहां कारण द्वारा कार्य का ज्ञान प्राप्त किया जाय जैसे घनघोर मेघों को देख कर वृष्टि के होने का ज्ञान होता है अर्थात् "पहले जब इस प्रकार का मेघ आया था तो वृष्टि हुई थी, अब फिर वैसा ही बादल आया है अतः अब भी वर्षा होगी,, यह जो वृष्टि के होने का ज्ञानहै यह पहलेके बादल को देख कर किया गया था। अतएव "पूर्ववत्-अनुमान" कहलाता है। द्वितीय "शेषवत्,, यहां कार्य्य को देख कर कारण का अनुमान किया जाय नदी को बहुत वेग से तथा मटीले जल से बहती हुई को देख कर ज्ञान होता है कि ऊपर पर्वत में वर्षा हुई है। तृतीय "सामान्यतो दृष्टम्,, किसी स्थान में दो वस्तुओं के सम्बन्ध को देख कर दूसरे स्थान पर उन में से एक को देख कर दूसरे का अनुमान करना जैसे घरमें आग से धुआं निकलता देखा है। वन में दूरसे धुएँ को निकलते देख कर यह जान लेना कि वहां आग है—इसी प्रकार ऐसी वस्तुएँ जिनका कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ किन्तु सम्बन्ध द्वारा जानी जाती हैं जैसे जो जो वस्तु संसार में परिणाम वाली (अर्थात् बदलने वाली) देखी जाती हैं वे सब उत्पन्न हुई है यथा एक बालक उत्पन्न हुआ और वह पढ़ने लगा। तदन्तर मर गया। इस से पता लग गया कि जो वस्तु परिणामी है वह नाशवान् है अब इसी ज्ञान से संसार (जगत्) के उत्पन्न होने और नाशवान् होने का अनुमान किया। यद्यपि जगत् की उत्पत्ति को कहीं प्रत्यक्ष नहीं देखा तथापि यावत् वस्तु संसार में परिवर्तन शील हैं वे उत्पत्तिमान् होती हैं-यह ज्ञान उत्पन्न वस्तुओं के परिवर्तन से कर लेते हैं और जगत् को परिवर्तन स्वभाव वाला देख कर इसी अनुमान से उत्पन्न और नाशवाला (नश्वर) मानते हैं अनुमान के सम्बन्ध में बहुत विवाद हो सकता हे किंतु ग्रन्थ विस्तार के भय से इतना ही पर्याप्त है। (प्रश्न) उपमान किसे कहते हैं ?

उत्तर-प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

अर्थ—स्पष्ट गुणों के मिलाने से जो एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'उपमान, अर्थात् सादृश्य कहते हैं यथाः-किसी ने कहा कि गौके तुल्य "नीलगाय,, होतीहै। जब वह पुरुष जङ्गलमें गयातो नीलगाय को गौ के सदृश देख कर जान लिया कि यह 'नीलगाय, है इस प्रकार बाह्य स्पष्ट गुणों की तुलना करना उपमान कहलाता है। (प्रश्न) 'उपमान, प्रमाण से क्या लाभ है? (उत्तर) संज्ञी [नामवाला]-और संज्ञा [नाम] का सम्बन्ध इसी से पैदा होता है क्यों कि गाय के सदृश होने से नीलगाय और माप के से पत्तों वाली होने से 'मापपर्णी, आदि सैकड़ों औषधियां 'उपमान, से ही जानी जाती हैं, इसी प्रकार और २ अवसरों पर भी उपमान से काम निकलता है। (प्रश्न)-शब्द किसे कहते हैं?

उत्तरः-आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

अर्थः-'आप्त' उस विद्वान् तथा सत्यवक्ता को कहतेहैं जो पदार्थों के गुणों को जानकर उसकी सत्ता और लाभों को वर्णन करे। अर्थात् जिस वस्तु को बुद्धि तथा विद्या सम्बन्धी अन्वीक्षण से जैसा जाना है। उसको वैसाही बतलाने वालेका नाम 'आप्त' है। यह लक्षण ऋषि, आर्य, म्लेच्छादि सबके लिये सङ्गत हो सकता है। और सब उसी के अनुकूल आचरण करते हैं और संसार के हरएक पदार्थ को इन प्रमाणों से जान कर काम करना चाहिए आप्त के उपदेशको शब्द प्रमाण कहते हैं। (प्रश्न) शब्द कितने प्रकारका है?

उत्तरः-स द्विविधो दृष्टा दृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

अर्थ-'शब्द' दो प्रकार का है। प्रथम वह जिसका अभिप्राय संसार में इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है। द्वितीय वह जिसका अर्थ इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। यह दोनों प्रकार के 'शब्द' प्रमाण कहलाते हैं। यथा किसीने कहा कि जिसको पुत्रकी इच्छा हो वह यज्ञ करे। यहां यज्ञ द्वारा पुत्र का उत्पन्न होना या न होना इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होसका है। दूसरे किसीने कहा कि जिसको स्वर्ग की कामना हो तौ वह यज्ञ करे-सो स्वर्ग की प्राप्ति इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती। क्योंकि स्वर्ग सुखका नाम है और सुख किसी इन्द्रिय का विषय नहीं ॥८॥ (प्रश्न)-इन प्रमाणों से कौन २सी वस्तुएँ जानी जा सकती हैं?

उत्तर—आत्मा शरीरेन्द्रियार्थ बुद्धि मनः प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल दुःखपवर्गास्तु प्रमेयम ॥ ९ ॥

अर्थ—यह बारह वस्तु 'प्रमेय, अर्थात् प्रमाणों से जानी जा सकती हैं प्रथम 'आत्मा, दो प्रकार का है एक तो वह है सारे संसार में व्याप्त है और सर्वज्ञ है, दूसरे वह जो कर्मों का फल भोगने वाला है। जिस के भोग का आयत्न (मकान) यह शरीर है और भोगके साधन रूप 'इन्द्रियें हैं—और भोग्य 'पदार्थ' अर्थात् जो इन्द्रियों के विषय हैं—वे हैं जो इन्द्रियों द्वारा अनुभव किये जाते और भोग (बुद्धि 'अर्थात्) 'ज्ञान' है। सब पदार्थ इन्द्रियों से नहीं जाने जा सक्ते अतः परोक्ष पदार्थों का अनुभव कराने वाला 'मन' है और मन में राग द्वेष दो प्रकार के उत्पन्न होते हैं—जिन से 'प्रवृत्ति अर्थात् किसी पदार्थ के त्याग वा अङ्गीकार करने का प्रयत्न उत्पन्न होता है—'प्रेत्य भाव, जन्म मरण को कहते हैं अच्छे बुरे कर्मों का उपभोग 'फल' कहलाता है फल दो प्रकार का होता है—एक 'दुख' जिसे वन्धन कहते हैं द्वितीय 'अपवर्ग' जिसे मुक्ति कहते हैं, इन पर अधिक वाद विवाद आगे सूत्रों में आयगा ॥ ९ ॥

प्रश्न—'आत्मा' के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् इति ॥१०॥

अर्थ—आत्मा के यह लिङ्ग (चिन्ह) हैं इच्छा, द्वेष, सुखदुःख प्रयत्न, और ज्ञान, यह छ (आत्मा) के लिङ्ग अर्थात् प्रत्याक हैं।

प्रश्न—'इच्छा' किसे कहते हैं ? (उत्तर) जिस प्रकार की वस्तु से पहले सुख मिला था, उसी प्रकार की वस्तु को देख कर प्राप्त करने के विचार को 'इच्छा कहते हैं। (प्रश्न) द्वेष किसे कहतेहैं ?

उत्तर—जिस प्रकार की वस्तु से पहले कष्ट हुआ था उसी प्रकार की वस्तुको देखकर, दूर ही से अपनयन का विचार द्वेषकहलाताहै।

प्रश्न—प्रयत्न किसे कहते हैं ? (उत्तर) दुःख के कारणों को दूर और सुख के कारणों को प्राप्त करने की क्रिया को प्रयत्न कहते हैं ?

प्रश्न—ज्ञान किसे कहते हैं ? (उत्तर) आत्मा के अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों को पृथक् २ जानना ज्ञान कहलाता है ? शेष 'सुख' दुःख का लक्षण तत्र सूत्रों में ही वर्णन करेंगे। (प्रश्न) शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर—"चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" ॥ ११॥

अर्थ-जहां बैठकर इन्द्रिय पदार्थ के लिये चेष्टा करते हैं-उसे शरीर कहते हैं। (प्रश्न)'चेष्टा' किसे कहतेहैं ? (उत्तर)'इष्ट' या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति त्याग के प्रयत्न का नाम 'चेष्टा' है। (प्रश्न)इन्द्रियों का आश्रय क्यों कहा ? (उत्तर) जिसके कृपाकटाक्ष से अनुगृहीत होकर अपने विषयों को इन्द्रियां प्राप्त करती हैं वह उनका आश्रय अर्थात् अवलम्ब है और वही शरीर है। (प्रश्न) आश्रय या अवलम्ब किसे कहते हैं ? (उत्तर) इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ सुख और सुखका जो ज्ञान परस्पर सम्बन्ध है उनका वही सहारा है और वही शरीर है। (प्रश्न) इन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर--घ्राण-रसन-चक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस से गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है—वे क्रमशः घ्राण (नाक), चक्षुः [नेत्र], रसना [जिह्वा], त्वचा [खाल] और श्रोत्र [कान] कहलाते हैं। (प्रश्न) इन्द्रिय का लक्षण कहो ? (उत्तर) जो अपने विषय को ग्रहण करसके। (प्रश्न) यह इन्द्रियां किन से उत्पन्न होती हैं ? (उत्तर) पञ्च भूतोंसे-अर्थात् अग्नि से आंख, पृथ्वी से नाक-वायु से खाल-पानी से रसना और आकाश से कान उत्पन्न होते हैं-और यह पांचों इन्द्रियां अपने २ विषय ग्रहण करते हैं। (पृश्न) भूत किसे कहते हैं या कौनसे हैं ?

उत्तर--"पृथिव्यापस्तेजो वायु राकाशामिति भूतानि ॥ १३ ॥

अर्थ—भूमि-जल-अग्नि-वायुः और आकाश यह पांच भूतहैं। (पृश्न)इन भूतोंके कौन से गुणहैं-जिनको इन्द्रियां ग्रहण करतीहैं ?

उत्तर--"गन्ध रस रूप स्पर्श शब्दाः पृथिव्यादिगुणा-स्तदर्थाः" ॥ १४ ॥

अर्थ-पृथिव्यादि के गुण इन्द्रियों के अर्थ कहलाते हैं पृथिवी का गुण गन्ध है-व (गन्ध) पृथ्वीन्द्रिय-घ्राण [नाक] का अर्थ है-जल का गुण रस है वह जलेन्द्रिय—रसना (जिह्वा) का अर्थहै-तेज अर्थात् अग्नि का गुण रूप है वह तेज सेन्द्रिय-नेत्रका अर्थ है।

वायवीयेन्द्रिय–त्वचा अर्थ स्पर्श है जो कि वायु का गुण है । शब्द आकाश का गुण है अतः आकाश के इन्द्रिय श्रोत्र (कान) का अर्थ है ॥ (यहां 'अर्थ' का अर्थ 'विषय' है—) (पृश्न) बुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर--बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥१५॥

अर्थ—बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान यह अलग २ वस्तु नहीं हैं किन्तु यह एक ही है। (पृश्न) क्या बुद्धि भूतों से बनी हुई नहीं ?

उत्तर—यदि भूतों से उत्पन्न होती तो जड़ और आत्मा का कारण (साधन होती–और जड़ रूप कारण को ज्ञान होना असम्भव है यदि कहा जाय कि द्वितीय चेतन वस्तु है तो भी युक्त नहीं क्योंकि शरीर त्वचादि इन्द्रिय के संघात् (समुदाय) से एक ही चेतन है (?) अतः बुद्धि चेतन के गुण अर्थात् ज्ञान ही का नामहै।

(पृश्न) मन किसे कहते हैं ?

उत्तर--युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ॥ १६ ॥

अर्थ–एक काल में दो ज्ञान का न पैदा होना यह मन का लिङ्ग (लक्षण) है। (पृश्न)—मन के मानने की क्या आवश्यकता है सब काम इन्द्रियों से ही चल जायगा ? (उत्तर) स्मृति स्मरण आदि किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है परन्तु उनकी सत्ता अवश्य है अतः उनका ग्रहण करने वाला कोई अन्य (साधन) इन्द्रिय अवश्य होना चाहिए जो वाह्येन्द्रियोंसे भिन्नहो और वह मन है क्यों कि किसी वाह्य इन्द्रिय का विषय स्मरण नहीं है अपरञ्च जबहम विचार में मस्त होतेहैं उस समय जो पदार्थ हमारे सामनेसे गुज़र जातेहैं हमें उनका तनिकभी ज्ञान नहीं होता इससे स्पष्ट पृतीत होताहै कि जब मन इंद्रियों से सम्बंध रखता है तभी ज्ञान होताहै और जब नहीं रखता तब ज्ञान भी नहीं होता यदि मन कोई पृथक न होता तो केवल इन्द्रियों से ज्ञान होता और एकही काल में पांचों इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान भी हुआ करता पर ऐसा होता नहीं अतः मनको मानना पड़ता है ॥ (पृश्न) पृवृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर--प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भइति ॥ १७ ॥

अर्थ–इस सूत्र में बुद्धि से 'मन, अभिपृेत है मन, इन्द्रिय और शरीर का काम में लगना पृवृत्ति कहलाती है यदि मन अकेला काम

करता है तो वह कर्म मानसिक कहलाता है यदि मन और वाणी दोनों मिल कर उस काम को करते है तो वह वाचक कर्म कहलाता है यदि मन इन्द्रिय और शरीर मिलकर काम में लगते हैं तो वह शारीरिक कर्म कहलाता है (प्रश्न) प्रवृति किस काम में होती है ? (उत्तर) पुण्य या पाप में, अर्थात् जो भी कर्म किया जायगा— उस से पुण्य या पाप अवश्य होगा। (प्रश्न) पुण्य किसे कहते हैं? (उत्तर) जिसका फल अन्त्य को सुख हो अर्थात् भावी सुख के कारण का नाम पुण्य है। (प्रश्न) पाप किसे कहते हैं ? (उत्तर) जिसका फल आगे को दुःख हो। (प्रश्न) दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर-प्रवर्तनालक्षणा दोषः ॥ १८ ॥

अर्थ—प्रवृत्ति के कारण अर्थात् प्रवृत्ति के कराने वाले को दोष कहते हैं (प्रश्न) प्रवृत्ति को कौन करवाते हैं ? (उत्तर) रागद्वेष और मोह यह तीनों जीव की प्रवृत्ति को करवाते हैं यही दोष हैं। (प्रश्न) प्रेत्य भाव का लक्षण क्या है।

उत्तर-पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १९ ॥

इन्द्रिय और मनका शरीर के साथ जो सम्बन्ध है उस के टूट जाने का नाम 'प्रेत, है और प्रेतके दोबारा जन्म लेनेको 'प्रेत्यभाव, [मरकर जन्मना] कहते हैं। अर्थात् सूक्ष्म शरीर के साथ जीव का एक शरीर से निकलना 'प्रयाण, कहलाता है-प्रयाण जो करता है उसे 'प्रेत, कहते हैं और उस प्रेत का अन्य शरीर के साथ जो सम्बन्ध का पैदा करना है वह 'प्रेत्यभाव [आवागमन] कहलाता है सो यह अनादि जन्म से लेकर मुक्ति की अवस्था तक बराबर लगा रहता है (प्रश्न) प्रेत्य भाव के होने में क्या प्रमाण है (उ०) बुद्धि के संस्कार और कर्मों का भिन्न २ प्रकार का भोग॥ क्योंकि जीव का स्वभाव इस प्रकार का है कि यह संग (संसर्ग) से संस्कृत होता है अतः जैसे जन्म में जीव रहता है उसी प्रकार के स्वभावों के संस्कार मन पर अङ्कित होजाते हैं जो कि बालकों की स्मरण शक्ति और आकृतिक [स्वाभाविक] वैचित्र्यपर विचार करने से स्पष्ट अनुभूत होसकते हैं। अधिक विवाद परीक्षा प्रकरण में आयेगा। (प्रश्न) फल किसे कहते हैं।

उत्तर-प्रवृत्ति दोष जनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

अर्थ—प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न जो सुख दुःख का ज्ञान है

वह फल कहलाता है सुख तथा दुःख कर्म का विपाक अर्थात् [शुभा शुभ] परिणामहै और यह [अर्थात् सुख और दुःख] शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रिय के विषय और मन की सत्ता में होते हैं । अतएव शरीरादि के द्वारा ही फल मिलता है। यह जो हमें सुख दुःख तथा मनापमानादि सहन करने पड़ते हैं यह सब फल रूप हैं-अब "यह फल हमें प्राप्त करना चाहिए और इसे त्यागना चाहिए" इस के लिये फल के पैदा होने से पहले विचार करना चाहिए ॥ (पृश्न) दुःख किसे कहते हैं ?

उत्तर--बाधाना लक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

अर्थ—स्वतन्त्रता का न होना और विकल्प का होना दुःख कहलाता है अर्थात् मन को जिस वस्तु की इच्छा हो उसके न मिलने का नाम दुःख है ॥ (पृश्न) स्वतन्त्रता से और दुःख से क्या सम्बन्ध है) ? (उत्तर) जब मनुष्यको भूख लगे और खाना उपस्थित हो तो वह क्षुधा दुःख नहीं कहलाती (प्रत्युत खाने [भोजन] की सत्ता में क्षुधा का न्यून होना दुःखका कारण होता है परंतु जब वह भोजन विद्यमान न हो तब भूख अत्यन्त दुःख दायिका प्रतीत होती है द्वितीय जैसे मजदूर [कर्मकार] लोग अपने घर में रहते हैं उन्हें कुछ कष्ट प्रतीत नहीं होता परन्तु यदि उसको उस घरसे वाहर जाने का निषेध करदिया जाय तो वह घर उनको कष्ट का घर होजायगा । (पृश्न) यदि स्वतन्त्रता का न होना ही दुःख है तो जीव कदापि मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा के नियमों में बंधा हुआ है । (उत्तर) परमात्मा जीव के भीतर वाहर विद्यमान है अतः उस से सुख प्राप्ती के लिये जीवको किसी साधन (सामग्री] की आवश्यकता नहीं अतः वह नियमित नहीं परंतु प्राकृतिक सुख की प्राप्ती के लिये मन इन्द्रिय और भोग्य सामग्री की आवश्यकता है । उन में से एक की भी न्यूनता से अत्यन्त दुःख प्रतीत होता है । (पृश्न) मुक्ति क्या वस्तुहै ?

उत्तर -तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

अर्थ—उस [दुःख] के पञ्जा [चुङ्गल] से सर्वथा छूट जाने का नाम अपवर्ग अर्थात् मुक्ति है । (पृश्न) क्या दुःख के अत्यन्ता भाव का नाम मुक्ति है ? (उत्तर) यदि दुःख के अत्यन्ता भावको मुक्ति माना जाय तो वह मुक्ति चेतन्न जीवात्मा की नहीं हो सकती

परन्तु जड़ वस्तुओं का धर्म है क्योंकि जड़ वस्तुओं में मन के न होने से कभी दुःख का नाम मात्र भी नहीं होता। अतः दुःख हो-कर सर्वथा दूर होजाना मुक्ति कहलाती है। (प्रश्न) यदि दुःखका हो कर छूटजाना मुक्ति है ऐसे माना जाय तो सुषुप्ति काल में जाग्रतावस्था के दुःख छूट जाते हैं अतः मुक्ति कहलायगी । (उत्तर) सुषुप्तावस्था का नाम मुक्ति नहीं हो सक्ता किन्तु मुक्ति के लिये एक दृष्टांत हो सक्ता है क्योंकि सुषुप्तावस्थामें दुःखों का बीज सूक्ष्म शरीर विद्यमान है और मुक्ति की दशा में सूक्ष्म शरीर नहीं रहता।

प्रश्न-मुक्ति में दुःख नाश होजाता है तो संसारमें सब लोग मुक्त हो जाने चाहिएं ? (उत्तर) अतएव तो ऋषिने सर्वथा दुखसे पृथक् होना मुक्त कहा अन्यथा दुःख के नाश को मुक्ति बतलाते।

प्रश्न—क्या एक बार दुःख से छूटकर फिर बन्धन में तो जीव नहीं आता ? (उत्तर) आता है क्योंकि साधनोंसे निष्पन्न मुक्तिनित्य नहीं होसकती। (प्रश्न) जब दुःख का लेश मात्र भी सम्बंध न रहा और मिथ्या ज्ञान जो दुःखोत्पत्ति का कारण था नष्ट होगया तो फिर दुःख क्योंकर उत्पन्न हो सकता है ? (उत्तर) मिथ्या ज्ञान को नष्ट करने वाला जो वेद द्वारा ज्ञात तत्वज्ञान है जब मुक्ति में वेदों की शिक्षा का अभ्यास बन्द हो गया तो जीव का ज्ञान ह्रासभाव को प्राप्त होता गया और अंततः अपनी स्वाभाविक ज्ञान की सीमा तक पहुंच गया जिससे फिर बंधन में आना सम्भव होगया अधिक विवाद आगे आयेगा। (प्रश्न) संशय अर्थात् सन्देह किसे कहते हैं ?

उत्तर--समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्य नुपलब्ध्यव्यवस्था तश्चविशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥ २३ ॥

अर्थ—जहां सामान्य गुण तो मिलजांय और विशेष धर्मों [गुणों] को जानने के लिये जो विचार उत्पन्न होताहै वह संशय कहलाताहै जैसे किसी पुरुष ने दूर से स्थाणु [सूखे वृक्ष का ठुण्ठ] को देखा और पुरुष के समान स्थूल और ऊँचा देखकर यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि यह पुरुष है या ठुण्ठ है इस पर समीक्षा आरम्भ की यदि मनुष्य होता तो उस के हाथ पाओं अवश्य हिलते अतः जानना चाहिये। (प्रश्न) इस दृष्टान्त के समान धर्म कौनसे हैं। (उत्तर) स्थूलता और ऊँचाई साधारण धर्म हैं और कर चरणादिके चालनादि विशेष धर्म हैं जो मनुष्यमें हैं और स्थाणु में नहीं। (प्रश्न) संशय किस दशा में होता है ? (उत्तर) जब तक पदार्थ का

तात्विक ज्ञान नहीं होता यथा जो नर आत्मा के गुणों से अनभिज्ञ है उसको इस बातका सन्देह है या नहीं परन्तु जब उसको आत्मा के गुणों का ज्ञान होजाता है तब उसको सन्देह नहीं होता (प्रश्न) जब कि मनुष्य को मुक्ति के लिये ही परिश्रम करना चाहिये और कामों में आयु व्यतीत करना व्यर्थ है तो क्यों इतने व्यर्थ के झगड़े करे। (उत्तर) आत्मा का प्राकृतिक पदार्थों से किसी न किसी समय सम्बन्ध अवश्य पड़ता है जिससे आत्मा को संशय उत्पन्न होता है कि क्या यह वस्तु मेरे लिये लाभ कारक है या हानिकर यदि लाभदायक प्रतीत होगी तो उस की प्राप्ति की अवश्य इच्छा होगी। और यदि हानिकारक होगी तो उसके त्यागका यत्न होगा अतः मनुष्य को सन्दिग्ध विचार सर्वथा दूर कर देना चाहिये जिसका उपाय तत्वज्ञान बिना नहीं हो सक्ता। (प्रश्न) प्रयोजन किसे कहते हैं।

उत्तर—"यमर्थमधिकृत्यप्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्" ॥२४॥

अर्थ-जिस वस्तु को आत्मानुकूल या प्रतिकूल जानकर उसको ग्रहण करने का या त्याग करने का विचार जिस लिये उत्पन्न होता है वही प्रयोजन या उद्देश कहलाता है। (प्रश्न) दृष्टान्त किसे कहते हैं ?

उत्तर-"लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थेबुद्धिसाम्य-सदृष्टान्तः ॥ २५ ॥

अर्थ-जो लोग साधारण रूप से किसी बात को मानते हैं वे लौकिक कहलाते हैं और जो लोग हरएक पदार्थ के गुणों को बुद्धि तथा तर्क द्वरा जानकर निर्णीत करते हैं वे परीक्षिक कहलाते हैं। जिस पदार्थ को लौकिक और परीक्षिक एकसा समझते हैं। उसी को दृष्टान्त कहते हैं दृष्टान्त के विरोध से ही प्रतिपक्षियों के सिद्धांत खण्डन किये जाते हैं और दृष्टान्त के ठीक होने से अपने अङ्गीकृत सिद्धान्तों को पुष्ट (दृढ़) किया जाता है। (प्रश्न) सिद्धान्त किसे कहते हैं।

उत्तर-"तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः" २६

अर्थ-सिद्धान्त तीन प्रकारके होतेहैं प्रथम तन्त्र, सिद्धान्त द्वितिय अधिकरण सिद्धान्त, तृतीय सिद्धान्त अभ्युपगम सिद्धान्त॥ और

तन्त्र सिद्धान्त दो प्रकारका होता है। (प्रश्न) तन्त्र किसे कहते हैं? (उत्तर) तन्त्र उसे कहते हैं कि बहुत से ऐसे पदार्थों का जिस में एक का दूसरे से सम्बन्ध हो और वर्णन आये उसको तन्त्र कहते हैं। शास्त्रों को जिस में हरएक आवश्यक बात का जो मनुष्य को मुक्त करने के लिए आवश्यक है वर्णन और परीक्षा विद्यमान है। (प्रश्न) दोप्रकार के तन्त्र सिद्धान्त कौनसे हैं?

उत्तर—सर्वतन्त्र प्रतितन्त्रा धिकरणा भ्युपगसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥ २७ ॥

अर्थ—एकतो सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहलाता है और दूसरा प्रतितन्त्र सिद्धान्त। (प्रश्न) सर्वतन्त्र सिद्धान्त किसे कहते हैं?

उत्तर—सर्वतन्त्र विरुद्ध स्वतन्त्रेऽधिकृतोर्थः सर्वतन्त्र सिद्धान्तः ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस बात के विरुद्ध किसी शास्त्रमें प्रमाण न मिले और उसको एक शास्त्र ने उपपादन किया हो उसे सर्व तंत्र सिद्धान्त (सर्वदेशी) कहते हैं यथा–नासिका (नाक) आदि इन्द्रियों से गन्धादि का ज्ञान होता है इसके विरुद्ध किसी शास्त्र में प्रमाण नहीं मिलेगा। या पृथ्वी आदि पांच भूत हैं इत्यादि। हरएक बात को प्रमाण द्वारा जांच कर स्वीकार करना चाहिये। (प्रश्न) प्रतितंत्र सिद्धान्त किसे कहते हैं?

उत्तर—समानतन्त्रासिद्धः परतन्त्रासिद्धान्तः प्रतितन्त्र सिद्धान्तः ॥ २९ ॥

अर्थ-जो किसी विचार की पुस्तकों में तो सिद्ध हो और दूसरे विचार के शास्त्र वाले उस का खण्डन करें तो वह प्रति तंत्र सिद्धांत अर्थात् एक देशी सिद्धान्त कहलाता है। यथा नैयायिकलोगसंसार की उत्पत्ति अपने ही कर्मों से मानते हैं और सांख्य वाले उसके विरुद्ध कार्य्य को नित्य मानतें हैं। (प्रश्न) अधिकरण सिद्धान्त किसे कहते हैं?

उत्तर-यत्सिद्धावन्यप्रकरणासिद्धिःसोऽधिकरणासिद्धान्तः ॥ ३० ॥

अर्थ—जिस बात के सिद्ध हो जाने से अन्य बातें स्वयं सिद्ध

हो जांय और उसके सिद्ध किये विना सिद्ध न हों अर्थात् जिसकी सिद्धि अन्य की सिद्धि पर ही निर्भर हो तो जिसकी सिद्धि स्वीकृत होने से और बातें स्वतः सिद्ध हो जायँ-वह अधिकरण सिद्धान्तहै यथा-शरीर, इन्द्रियोंसे जानने वाला आत्मा पृथक्है क्योंकि दर्शन या स्पर्शन से एकही वस्तु को जाननेसे प्रतीत होताहै कि यदि आत्मा शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् न होता तो इन्द्रियों को अपने नियत विषय का ज्ञान तो होता परन्तु जिस अर्थ के दूसरे इन्द्रियों ने ग्रहण किया है उसका ज्ञान न होता जैसे एक वस्तु बूढ़े को आंख से दीखती है और हाथ से पकड़ कर कहता है कि जिसको देखा था उसे उठाता हूं-यदि शरीर और इन्द्रियों से पृथक् आत्मा कोई वस्तु न होती और शरीर तथा इन्द्रियें ही आत्मा होतीं तो ऐसा ज्ञान नहीं होना चाहिये था, क्योंकि दिखाई तो आंख से दिया था और उठाया गया हाथ से ओर कहता है कि जिसको मैंने देखा था उसे उठाता हूं-अतः यह सिद्ध हुआ कि हरएक इन्द्रियादि द्वारा से जानने वाला कोई और है इसी का नाम अधिकरण सिद्धान्त है ॥

(प्रश्न) नियत विषय किसे कहते हैं। (उत्तर) ज्ञाता और ज्ञान से भिन्न किसी द्रव्य में रहने वाले जो गुण हैं वे नियत विषय हैं-यह सब विषय आत्मा के शुद्ध होने से शुद्ध हो सकते हैं अन्यथा नहीं (प्रश्न) अभ्युपगम सिद्धांत किसे कहते हैं ?

उत्तर=अपरीक्षिता भ्युपगमात् तद्विशेष परीक्षणम= भ्युपगम सिद्धान्तः ॥ ३१ ॥

अर्थ-साधारण रूप से किसी वस्तु का ज्ञान होने के पश्चात् उसके धर्मों की परीक्षा का आरम्भ कर दिया जाय तो वह अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है यथा "शब्द द्रव्य है" ऐसा मान कर यह परीक्षा करना कि शब्द रूप द्रव्य नित्य है वा अनित्य है-शब्द की सत्ता को स्वीकार करके उसके नित्यत्व और अनित्यत्व का विचार करना अभ्येपगम सिद्धान्त कहलाता है ? (प्रश्न) अवयव किसे कहते हैं ?

उत्तर—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ३२

अर्थ-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन और निगमन यह पंच

अवयव हैं कि जो अनुमान प्रमाण में प्रयुक्त किये जाते हैं—या इन पांचों के समुदाय को अनुमान कहते हैं किन्तु कोई २ नैयायिक दश अवयव अनुमान के मानते हैं वह पांच यह हैं यथा जिज्ञासा, संशय शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयाभ्युदास अर्थात् सन्देह के अपाकरण का विचार। (प्रश्न) प्रतिज्ञा किसे कहते हैं?

उत्तर—"साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा" ॥ ३३ ॥

अर्थ-ज्ञय (जानने योग्य) धर्म से धर्मी को निर्देश करना प्रतिज्ञा कहलाती है यथा-कहा जाय कि शब्द अनित्य है, अथवा आत्मा चैतन्य है इत्यादि। (प्रश्न) हेतु किसे कहते हैं?

उत्तर—उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३४ ॥

अर्थ-उदाहरण के साधर्म्य अर्थात् सादृश्यसे साध्य को सिद्ध करना हेतु अर्थात् युक्ति कहलातीहै और जो धर्म साध्यहो उसी धर्म को उदाहरण में दिखलाकर उस धर्म को सिद्ध करने की यही युक्ति है-जैसे प्रतिज्ञा में कहाथा कि शब्द अनित्य है उस की युक्ति यह वतलाना कि उत्पत्तिमान् होने से है क्योंकि जो वस्तु उत्पत्ति वाली है वह सब नाश वाली देखी जाती है। (प्रश्न) क्या हेतु उदाहरण की सदृशता से होता है।

उत्तर—तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

अर्थ—उदाहरण के विरोध से भी यदि किसी वस्तु का प्रमाण वर्णन कियाजाय तो वहभी हेतु अर्थात् युक्ति कहलातीहै (प्रश्न) यथा शब्द क्यों अनित्य है? (उत्तर) उत्पत्तिमान् होने से इस के विरोध से पाया जाता है कि जो उत्पत्तिमान् नहीं है वह अनित्य नहीं है जैसे आत्मादि हैं। (प्रश्न) उदाहरण किसे कहते हैं?

"साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावीदृष्टान्तउदाहरणम्"॥३६॥

अर्थ-साध्य के सदृश धर्मवाला होने से उन दोनों के धर्म की समता करना उदाहरण है और साध्य दो प्रकारके होतेहैं एक गुणी दूसरे गुण जैसे किसी ने कहा कि शब्द में अनित्यत्व है अर्थात् वह नाश होने वाला है दूसरे शब्द अनित्य हैं हरएक वस्तु में अनित्यत्व दिखाई पड़ता है। (प्रश्न) अनित्य किसे कहते हैं? (उत्तर) सत्तावान् (जिस की सत्ता सम्भव हो) को जिसका उत्पन्न होना और नाश होना आवश्यक हो। (प्रश्न) अनित्यत्व

क्या वस्तु है ? (उत्तर) उत्पत्ति का होना अब जो वस्तु उत्पन्न हुई होगी। उस में अनित्य के उपस्थित होने से उसका अनित्य होना आवश्यक है जहां उत्पत्ति का अभाव होगा वहां अनित्यत्व का भी अभाव होगा अर्थात् कोई पैदा हुई वस्तु शेष नहीं रह सकती और न कोई अनादि वस्तु अनित्य हो सकती है। (प्रश्न) स क्या उदाहरण धर्मों के समान होने में ही दिया जा सकता है या कोई अन्य दशा भी है ?

उत्तर—तद्विपर्ययाद्वाविपरीतम् ॥ ३७ ॥

अर्थ-बहुत से अवसरों पर गुणों के वैधर्म्य से भी उदाहरण दिया जाता है जैसे किसी ने कहा शब्द अनित्य है उत्पत्तिवाला होने से, जो उत्पत्तिवाला नहीं है वह अनित्य नहीं जैसे आत्मा परमात्मा आदि। यह आत्मादि का दृष्टान्त विरुद्ध धर्मों से दिया गया है क्योंकि शब्द को अनित्य सिद्ध करना था जिस के लिए उत्पत्तिवाला होना युक्ति देकर उदाहरण के समय बतलाया कि जो उत्पन्न हुआ नहीं वह अनित्य नहीं जैसे आत्मादि इस उदाहरण से सिद्ध किया कि उत्पन्न हुई चीजें [वस्तुएँ] अनित्य हैं—उस का कारण स्पष्ट यह है कि एक किना वालारे नद संसार में दृष्टि नहीं आता इस दृष्टान्त में उत्पत्ति का अभाव ही अनित्य होने से पृथक् रखने वाला बताया गया—उत्पत्ति और नाश यह दो किनारे हरएक सत्तावान् कर्य्य द्रव्य के हैं अतः एक किनारा वाला कोई हो नहीं सकता यह जानकर ऊपर लिखा उदाहरण दिया गया। अतः जहां उदाहरण साध्य वस्तु के विरुद्ध धर्मों में दीजाय जैसे उत्पत्तिवान् को अनित्य बतलाने के लिए अनादि वस्तु को शिष्यमाण [नित्य] बतलाया और जहां साधर्म्य लेकर किसी पदार्थ का उदाहरण देकर उस के अनुकूल धर्म को सिद्ध किया। अतः दोनों प्रकार के उदाहरण अर्थात् दृष्टान्त हो सकते हैं ? (प्रश्न) उपनय किसे कहते हैं ।

उत्तर-उदाहरणापेक्षस्तथेति उपसंहारो न तथाति वा साध्यस्योपनयः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जहां उदाहरण में साध्य वस्तुके गुणों का सादृश्य दिखा कर यह कहा जाता है यथा स्थाली आदि उत्पन्न हुई वस्तुएँ अनित्य देखी हैं इसी प्रकार उत्पन्न हुई थाली के सदृश शब्द को

भी उत्पन्न हुआ जाना है इस लिये यह कहना कि जिस प्रकार थाली आदि उत्पन्न वस्तुएँ अनित्य हैं इसी प्रकार जन्य शब्द भी अनित्य है इसी प्रकार जहां आत्मादि अनादि वस्तुओं को नश्वर न देखकर यह विचार करना कि शब्द अनादि नहीं इसलिये यह नित्य नहीं अनुमान के पांचों अवयवों की ठीक वहस आगे लिखी जायगी (प्रश्न) निगमन किसे कहते हैं?

उत्तर-हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाःपुनर्वचनंनिगमनम् ३९

अर्थ—जहां साधर्म्य या वैधर्म्म से पक्ष को सिद्ध करके फिर दुहराना है उसे निगमन कहते हैं जैसे किसीने पक्ष स्थापना की कि पर्वत में अग्नि है जब इस प्रतिज्ञा के लिए हेतु मांगा तो कहा धुएँ के होने से जाना जाता है जब फिर उदाहरण पूछा कि क्या प्रमाण है कि जहां धुआं हो वहां आग होगी तब उत्तर मिलता है कि रसोई घर में आग से धुआं निकलता देखा है अतः पर्वत में भी आग से धुआं निकलता है जहां धुआं होगा वहीं आग होगी अतः पर्वत में अवश्य ही आग है (प्रश्न) प्रतिज्ञा को पृथक् वतलाइए? (उत्तर) पर्वत में आग है यह प्रतिज्ञा है (धूमवत्वात्) धूमवाला होने से यह हेतु है। रसोई घर में आग से धुएँ का निकलना उदाहरण है और जहां २ धुआं होगा वहीं आग होगी यह उपनयहै ऐसे ही पहाड़ में यह आग है यह निगमन है ॥(प्रश्न) तर्क किसे कहते हैं

उत्तर—अविज्ञाततत्वेऽर्थेकारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थं मूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

अर्थ-जिस वस्तु के तत्व को ठीक तौर पर न जानते हों उसके जानने की इच्छा का नाम जिज्ञासा है अर्थात् मैं उस वस्तु के तत्व को जानलूं और जिस वस्तु के जानने की इच्छा है उसके गुणों को अलग २ करके विचार करना कि क्या यह पदार्थ इस प्रकार का है या उस प्रकार का और पदार्थ के तत्व के विचार करने में जो रुकावटें पैदा होती हैं जिससे ख्याल होता है कि ऐसा होसकता है या नहीं इस प्रकार के बार २ के सन्देह पैदा करने का नाम तर्क है। यह जो जानने वाला जानने योग्य वस्तु को जानता है फिर उसमें विचार करता है कि क्या यह वस्तु जन्य है या अनादि है इस प्रकार जिस विशेषण का ठीक न हो उसमें विचार करना कि यदि यह जन्य

है तो ऐसे किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए पैदा होता है या कोई और सवब [कारण] है। (प्रश्न) तर्क करनेका प्रयोजन क्या है ? (उत्तर) वस्तु के वास्तविक रूप को जानना क्योंकि जिस वस्तु की तात्विक स्थिति को ठीक नहीं जानते उससे प्रायः अनिष्ट होता है। (प्रश्न) तर्क कै प्रकार का है ? (उत्तर) पांच प्रकार का-आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रिकाश्रय, अनवस्था, तदन्यवाधताप्रसङ्ग (प्रश्न) आत्माश्रय किसे कहते हैं ?(उत्तर) स्वयं ही पक्ष हो स्वयं ही हेतु-अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये उस प्रतिज्ञा को प्रमाण बताना-उदाहरण किसीने पूछा कि कुरान के ईश्वरीय वचन होने में क्या प्रमाण है-उत्तर दिया कुरआन में लिखाहै (प्रश्न) अन्योन्याश्रय किसे कहते हैं (उत्तर) जहां दो वस्तुओं की सिद्धि एक दूसरे के विना सिद्ध न होसके-जैसे किसीने कहा खुदा की सत्ता में क्या प्रमाण है-उत्तर दिया कुराआन का लेख, अब प्रश्न हुआ कि कुराआन के सच्चा होने का क्या प्रमाण है-उत्तर-कलाम इलाही होना-इस प्रकार बात चीत ठीक नहीं होसकती एक विश्वस्त साक्षी अपनी साक्ष्य से दूसरे को विश्वस्त सिद्ध कर सकता है और दो अविश्वस्त एक दूसरे को विश्वस्त सिद्ध करने से श्रद्धेय नहीं होसकते। (प्रश्न) किस प्रकार विवेचना हो सकती है।

उत्तर—" विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय" ॥ ४१ ॥

अर्थ-अपने पक्षके सिद्ध करने के लिए प्रमाणादि साधनों को काम में लाना और दूसरे के पक्ष को दूषित करके खंडन करना यह शैली विवेचना की है और जिन हेतुओं से अपने पक्ष की सिद्धिका प्रमाण और दूसरेके पक्षका खण्डन करना है वह निर्णय कहलाताहै

इति प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

अथ द्वितीय माह्निकम् ॥

प्रश्न-वाद किसे कहते हैं ?

उत्तर-प्रमाण तर्क साधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहोवादः ॥४२॥

अर्थ-एक पदार्थ के विरोधी धर्मों को लेकर प्रमाण-तर्क साधन और अशुद्धियां दिखलाने से तत्त्व के विरुद्ध न होकर पक्षादि [प्रतिज्ञादि वा] अनुमान के पांचों अवयवों को लिए हुए जो प्रश्नोत्तर करना है उसे वाद कहते हैं जो पुरुष प्रमाण देने के विना ही बात चीत करता है वह वाद करना नहीं जानता जैसे किसीने कहा आत्मा है प्रतिपक्षी कहता है कि आत्मा नहीं है अब इस पर दोनों ओर से प्रमाण और युक्ति द्वारा प्रश्नोत्तर करना 'वाद' है परन्तु जहां भिन्न वस्तुओं में दो विरुद्ध धर्म वर्णन किये जांय वह वाद नहीं कहाता। जैसे किसीने कहा आत्मा नित्य है दूसरा कहता है शब्द अनित्य है-यस्मात् नित्यत्व और अनित्यत्व दो भिन्न वस्तुओं में विद्यमान है अतः यहांपर वाद नहीं होसकता क्योंकि एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते जहां दो दृष्टि पड़े-उनमें से एक ठीक होगा दूसरा असम्भव—असम्भव को सम्भव से पृथक् करने के लिए वाद किया जाता है परन्तु भिन्न २ दो वस्तुओं में दो विरुद्ध धर्म रह सकते हैं। अतः वहांपर असम्भवता की असम्भवता नहीं-और जहां सम्भवता की सम्भवता नहीं वहां वाद की भी आवश्यकता नहीं॥ (प्रश्न) सिद्धान्त के विरुद्ध न हो यह क्यों कहा? (उत्तर) अपने सिद्धान्तकी अपेक्षा न कर उसके विरुद्ध जल्प वितंडा होजाता है वह वाद नहीं कहला सकता॥ (प्रश्न) जल्प किसे कहते हैं?

उत्तर-'यथोक्तोपपन्नश्छल जाति निग्रह स्थान साधनोपालम्भो जल्पः'॥ ४३॥

अर्थ-प्रमाण, तर्कादि साधनों से युक्तछल, जाति और निग्रह स्थानों के आक्षेप से वाद करने का नाम जल्प है। क्योंकि वाद में हारजीत (जय, पराजय) नहीं होती। उस में केवल सत्यासत्यका निर्णय करना उद्देश्य होता है। परन्तु जय पराजय उद्देश्य होता है तो वहां कहीं छलसे काम लियाजाता है कहां निग्रह स्थानों पर विवाद किया जाता है॥ (प्रश्न) जल्प और वाद में क्या भेद है? (उत्तर) प्रथमतो इन दोनों प्रकार के विवादों में उद्देश्य ही पृथक् पृथक् होते हैं-अर्थात् वाद का उद्देश्य वस्तु के तत्वका अनुसन्धान करना होता है। और जल्प से जय प्राप्ति अभिप्रेत होती है-द्वितीय वाद में छल आदि से काम नहीं लिया जाता और जल्प में यह भी

काम आते हैं क्योंकि छलादि से बात चीत करने वाला वस्तुके तत्व ज्ञानकी इच्छा पूरी नहीं करसकता-परन्तु जयका काङ्क्षी छल से काम ले सकता है-इस लिए तत्वान्वीक्षण के प्रयोजन से वार्त्तालाप का नाम वाद और जयपराजय काङ्क्षया जो वार्त्ता कीजाती है वह जल्प कहाती है ॥ (प्रश्न) वितण्डा किसे कहते हैं ?

उत्तर-स प्रति पक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ४४ ॥

अर्थ—विवाद जब इसप्रकार का हो कि कोई पक्षी अपना कोई सिद्धान्त न रक्खे परन्तु अन्यके पक्षका खण्डन करनाही अपना काम समझे तो उसे वितण्डा कहते हैं और इसप्रकार की वार्त्ता से वस्तुका यथार्थ ज्ञान कभी नहीं होसकता ॥ (प्रश्न) क्या वितण्डा करने से पदार्थ तत्व का याथात्म्य बोध नहीं हो सकता । उत्तर-न तो इस प्रकार विवाद करने वालों का यह उद्देश्य होता है कि हमें तत्व की वास्तविक दशा का ज्ञान हो और न ही इस उपायसे इच्छा पूर्ण होसकती है क्योंकि-तत्वानुसन्धान उभय पक्ष स्थापना द्वारा हो सकता है जिस प्रकार तुलाके दोनों पलड़ों से तो हरवस्तु का तोल जानी जासकती है किन्तु एक पलड़े से कभी तोल मालूम नहीं होसकती-वितण्डा करनेवाले किसी वस्तु के यथार्थ रूपको सिद्ध करने के वास्ते समुद्यत नहीं होते प्रत्युत प्रति पक्षी के पक्षकी कुट्टी करना ही उन का उद्देश्य होता है ॥(प्रश्न)हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरण सम, साध्य-समातीतकाला हेत्वाभासः ॥ ४५ ॥

अर्थ—पांच प्रकार के हेत्वाभास होतेःहैं, (जो वस्तुतः हेतु तो नहीं परन्तु हेत्वाकार प्रतीत होते हों-वे हेत्वाभास कहलाते हैं) प्रथम-सव्यभिचार, द्वितीय-विरुद्ध, तृतीय—प्रकरणसम, चतुर्थ-साध्य सम, पञ्चमकालातीत ॥ (प्रश्न) सव्यभिचार किसे कहते हैं?

उत्तर—' अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ' ॥ ४६ ॥

अर्थ-सव्यभिचार उसे कहते हैं जो एक स्थानपर स्थिर न रहे प्रतिज्ञाकी सिद्धि के लिये ऐसा हेतु देना जो प्रतिज्ञा को छोड़कर और स्थानपर भी चलाजाय सो व्यभिचारी कहलाता है जैसे किसी ने कहा कि शब्द नित्य है-जब प्रमाण पूछा तो बोला कि स्पर्शाभाववान् होने से-दृष्टान्त में कहा-कि क्योंकि अनित्य (घट) घड़े में

स्पर्शवत्व देखते हैं-अब नित्यत्व सिद्धि के लिये जो स्पर्शाभाववत्व हेतु है यह व्यभिचारी है क्योंकि विरुद्ध चीजों में भी पाया जाता है जैसे कि दुःख सुख स्पर्शाभाव वाले होने पर भी अनित्य हैं और परमाणु स्पर्शवान् होने पर भी नित्य है। अतएव ऐसे हेतुको सव्यभिचार हेत्वा भास कहते हैं यस्मात् आत्मादि नित्य होनेपर भी स्पर्शवाले नहीं और सुख दुःखादि अनित्य होने पर भी स्पर्शवाले नहीं अतः स्पर्शाभाववत्वहेतु अनित्यत्व का साधक कभी नहीं हो सकता-एवं स्पर्शवत्व हेतु नित्यत्व का भी साधक नहीं होसकता-जो हेतु पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों ही में पाया जाय वह हेतु ही नहीं परन्तु हेतुका आभास (प्रति विम्ब) है। प्रश्न—विरुद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर—'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः॥४७॥

अर्थ—जो हेतु अपने साध्य के प्रमाण में उपस्थित होकर उसीं का विरोधी है वह विरुद्ध हेतु कहलाता है जिस वस्तु को सिद्ध करना हो उसके विरुद्ध हेतु देना विरुद्ध कहलाता है। जैसे किसी ने कहा पर्वत में आगहै पूंछा क्या प्रमाण है ? तो उत्तर दिया कि स्रोत वाला होने से चूंकि पर्वत के स्रोतसे पानी आरहा है इसलिए पहाड़ में आग है - चूंकि यह युक्ति अग्निकी सत्ता को सिद्ध करने की अपेक्षा उस के अभाव को सिद्ध करती है। अतः इसको विरुद्ध हेतु कहते हैं। प्रश्न-प्रकरण सम हेत्वाभास किसे कहते हैं।

उत्तर—'यस्मात् प्रकरण चिन्ता सनिर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः' ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिसकारण से वस्तुकी जिज्ञासाकी आवश्यकता हो यदि उसी के सिद्ध करने में हेतु दियाजाय तो 'प्रकरणसम' अर्थात् जिज्ञास्य के साधन में अस्वीकृत हेतु और उसके अनुरूपहेतु देना अर्थात् जिस वस्तुके सत्यत्वपर पूरा विश्वास न हो और विवाद का विषय भी वही वस्तु हो उसी को हेतु के स्थान में देना 'प्रकरणसम' कहलाता है। (प्रश्न) प्रकरण किसे कहते हैं ? (उत्तर) ऐसे विषय को जिसका अनुसन्धान करना उद्देश्य हो और जिस के गुणों में परस्पर विरुद्ध मति होने के कारण एक प्रकार निश्चित ज्ञान नहो प्रत्युत सन्देह हो और वह परीक्षा के प्रयोजन से उपस्थित

होने पर प्रकरण कहलाता है। (प्रश्न) चिन्ता किसे कहते हैं? (उत्तर) सन्दिग्ध विषय को सन्देह शून्य बनाने की इच्छा से जो प्रश्नोत्तर कियेजाते हैं चाहे वे अपने ही मन में हों या दूसरे के साथ वह चिन्ता या विचार कहाती है अब प्रकरणसम का दृष्टान्त देतेहैं जैसे किसी ने कहा शब्द अनित्य है और उसके अनित्य होने की युक्ति उत्पत्ति वाला होना और सादि तथा सान्त द्रव्य के गुणों का न होना है—अर्थात् जितनी वस्तुएं जन्य हैं सब नश्वर हैं क्योंकि घट (घड़ा) आदि जन्य पदार्थ सब अनित्य हैं। यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और इस के साथ ही यह विचार उत्पन्न होना कि जिस प्रकार आत्मादि आकृति शून्य पदार्थ नित्य हैं—शब्द भी आकृति रहित होने से नित्य हो सकता है अतः शब्द का नित्य या अनित्य न होना विवाद गोचर है और नित्यत्वकी विशेषता को न मानना युक्ति नहीं किंतु मिथ्या हेतु है-इस लिए जो हेतु दोनों ओर घट जावे वह प्रकरण सम कहलाता है॥ (प्रश्न) साध्यसम हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर-"साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्सा-
ध्यसमः" ॥ ४६ ॥

अर्थ-वह हेतु जो स्वयं हेत्वन्तर की अपेक्षा रखता हो और उभय पक्षासम्मत हो किसी का हेतु नहीं होसकता-क्योंकि सन्देह के निरास करने के लिये विश्वास होना आवश्यक है और ऐसे हेतुओं से जो स्वयं प्रमाणान्तर चाहते हों सन्देह के ह्रास के स्थान पर उसकी वृद्धि होती है। जैसे किसीने कहा छाया द्रव्य है। हेतु कहा कि गतिमान् होने से अब छाया गति मती वस्तु है या नहीं यह स्वयं प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखती है। जब तक यह सिद्ध न होले कि छाया चलती है या पुरुष-तव तक इस हेतु से छाया का द्रव्य होना सिद्ध नहीं होता-प्रथम तो छाया के द्रव्यत्व में संशय था अब छाया के गतिमत्वागतिमत्व विषयक विवादान्तर आरम्भ हो गया-और यह बात प्रसिद्ध है कि जितना प्रकाश और वस्तु के मध्य अवरोध होता है उतनी हो छाया होती है-अतः छाया का चलना भी भ्रम है और जो हेतु भ्रामक हो वही आभास रूप है (प्रश्न) कालातीत हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर-"कालात्ययापदिष्टः कालातीतः" ॥ ५० ॥

अर्थ-जिस हेतु में काल का अन्तर हो जावे या काल का अभाव सिद्ध हो तो वह युक्ति 'कालातीत' कहलाती है-जैसे किसी ने कहा-कि-शब्द नित्य है-और उस में युक्ति यह दी कि जिस प्रकार नेत्र और प्रकाश के साथ सम्बन्ध होने से घट का प्रत्यक्ष होता है और प्रकाश के अभाव में घड़े का ज्ञान नहीं होता परन्तु प्रकाशाभाव काल में घडा अविद्यमान नहीं होता इसी प्रकार शब्दभी नित्य है जब वाणी से बोलते हैं तब उसका प्रादुर्भाव होता है तदनन्तर नहीं। इस दलील से शब्द को नित्य सिद्ध किया-परन्तु या युक्ति युक्त नहीं क्योंकि रूप का ज्ञान प्रकाश के साथ ही होता है परन्तु शब्द निकलने के पश्चात् कालान्तरमें दूर के मनुष्यों को शब्द सुनाई देताहै। इसलिये यह हेतु कालातीत हेत्वाभासहै-क्योंकि जैसा शब्द दुन्दुभी और काष्ठ के संयोग से उत्पन्न होता है वैसा शब्द वियोग से उत्पन्न नहीं होता अतः शब्द संयोग काल में नहीं उत्पन्न होता परन्तु उस काल को अतीत करती है कारण यह है कि कारण के होने से कार्य्य उत्पन्न नहीं हो सकता-अतः उदाहरण में सादृश्य न होने से यह हेतु हेत्वाभास कहलाया-बहुत से लोग यह आक्षेप करते हैं कि अनुमान के अवयवों को उलटे प्रकार से आगे पीछे वर्णन करन का नाम कालातीत है—परन्तु यह विचार ठीक नहीं क्योंकि जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है वह दूर होने पर भी बना रहता है। चाहे मध्य में कोई अवरोध आजावे परन्तु सम्बन्ध दूर नहीं हो सकता और जिनका वस्तुत सम्बन्ध नहीं वह क्रमशः और निकट होने पर भी युक्त नहीं होसकता यदि दृष्टान्त और हेतु के मध्य में कोई कोई अवयवान्तर आजावे तो हेतु का हेतुत्व नष्ट नहीं हो सकता-अतः अवयवों को आगे पीछे रखने से कालातीत हेत्वाभास नहीं हो सकता। (प्रश्न) छल करना या धोका देना किसे कहते हैं ?

उत्तर-'वचनविघातोऽर्थोपपत्याछलम्'॥ ५१ ॥

अर्थ-विवाद करने वाले विपक्षी के शब्दों के उलटे अर्थ करके उसके अभिप्राय से सर्वथा विरुद्धार्थ निकालना छल कहलाता है उसका व्याख्यान अगले सूत्रों के अर्थों में वर्णन किया जायगा और बहुत से उदाहरण भी दिये जायंगे॥ (प्रश्न) छल कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर-' तत् त्रिविधं वाक्छलं-सामान्य छलमुपचा रछलञ्चेति ' ॥ ५२ ॥

अर्थ-तीन प्रकारका होता है, वाक् छल (शब्दों का धोका)- सामान्य छल-और उपचार छल-(प्रश्न) ' वाक्छल' किसे कहते हैं?

उत्तर-' अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्था-न्तरकल्पना वाक्छलम् ' ॥ ५३ ॥

अर्थ-जहां एक शब्द के दो अर्थ हों-वहां वक्ताके अभिप्राय के विरुद्ध अर्थों को लेकर उसका खण्डन करना वाकछल कहलाताहै। जैसे किसीने कहा कि यह लड़का नव कम्बल वाला है-नव शब्दके दो अर्थ हैं एक तो नूतन-और दूसरे नौ (संख्या) अब कहने वाले का अभिप्राय तो यह था-कि इस लड़के का कम्बल नूतन है-तो विपक्षी ने खण्डन के लिये कहा कि इस के पास तो एक कम्बल है-नौ नहीं हैं-इस लिये तुम्हारा कहना असत्य है-यहांपर नव शब्द के दो अर्थ होने के कारण वक्ताके विरुद्ध अभिप्राय का तिरोधान करके धोका दिया गया-और विरोधी का धोका देना स्पष्ट अनुचित है यही वाक्छल कहलाता है इस प्रकार की और बहुतसी मिसालें हैं जो अधिकतया विवादों में सुनने में आई हैं। बहुत से वादी ठीक उदाहरण को अपने मत के प्रतिकूल देखकर मिथ्या सिद्ध करने के लिये इसी प्रकार के वाक्छल का प्रयोग किया करते हैं जिससे उन की निर्बलता का ज्ञान विचक्षण लोगों पर तो हो जाता है-परन्तु साधारण लोग उनकी धूर्त्तता के धोके में आ जाते हैं क्योंकि जब लड़के के पास एक ही कम्बल है तो उसका 'नव' शब्द से नूतन को छोड़ कर और क्या अभिप्राय हो सकता है। इस बात को समझ कर भी 'नव' के नौ (संख्या) अर्थ को लेकर आक्षेप करना नितान्त छल नहीं तो और क्या है। इसी प्रकार के धोके को वाक्छल कहते हैं। (प्रश्न) सामान्य छल किसे कहते हैं?

उत्तर—"सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्य योगा दसम्भू-तार्थ कल्पना सामान्यछलम्" ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो अर्थ शब्द के सामान्यता सम्भव हों उन के संसर्गसे असम्भव कार्य्यों की कल्पना करके विवाद करना सामान्य छल

कहाता है अर्थात् एक शब्द के साधारण अर्थों को लेकर वक्ता के अभिप्राय के प्रतिकूल भिन्न स्थानों पर उसको अन्वेषण करना छल है-जैसे एक पुरुष कहता है कि ब्राह्मण विद्वान् है तो हरएक लड़के को होना चाहिये क्योंकि—विद्वत्ता ब्राह्मण का गुण मान लिया गया है-अब वक्ता के मनोभाव के विरुद्ध युक्ति उत्पन्न की गई क्योंकि वह अधीत विद्य ब्राह्मण को विद्वान् बतलाता था-अब यह उसके प्रतिकूल हर एक ब्राह्मण वंशज में विद्वत्ता का गुण ढूंढते हैं जिस से वक्ता के तात्पर्य्य को सर्वथा मिथ्या बनाना अभिप्रेत है। क्योंकि ब्राह्मण का सविद्य होना तो सम्भव है परन्तु हरएक ब्राह्मण का विद्वान् होना असम्भव है। वक्ता ने तो युक्त बात कही थी जिस का होना सम्भव था-अब छल करने वाले ने सर्वथा उसके अभिप्राय के विरुद्ध परिणाम निकाला वह जिस गुण को एक ब्राह्मण में बतला रहाथा यह छल करनेके लिये उस गुणको हर ब्राह्मणमें ढूंढने लगा और इस धोके से उसके वचन को असत्य सिद्ध करना चाहा इस प्रकार के छल का नाम 'सामान्य छल' है—(प्रश्न) उपचार छल किसे कहते हैं ?

उत्तर—"धर्म विकल्प निर्देशेऽर्थसद्भाव प्रतिषेध उपचार छलम्" ॥ ५५ ॥

अर्थ—जहां किसी ने एक ऐसे शब्द को कहा कि जिसके दो अर्थ हों एक वह जो विशेष (प्रधान) अर्थ हो और दूसरे सामान्यार्थ हो-विशेष अर्थ को धर्म कहते हैं वक्ताने सामान्य (साधारण) अर्थों के प्रकट करने के लिये एक शब्द का प्रयोग किया-वहां उसकी विशेष धर्म (खास अर्थों को) वर्णन करके उस की सत्ता का अभाव सिद्ध करना उपचार छल कहलाता है। जैसे एक पुरुष हमारे साथ रेल पर सवार है और वह मेरठ के समीप पहुंच कर यह कहता है कि मेरठ आगया-अब उसका अभिप्राय मेरठ पहुंच जाने से है। हम उस की बात को मिथ्या सिद्ध करने के वास्ते यह धोका देते हैं कि शहर में 'आना जाना' रूप (क्रियारूप) धर्म सम्भव नहीं क्योंकि वह जड़ है इस लिए तुम्हारा यह कहना कि मेरठ आगया सर्वथा झूठ है। प्रत्युत रेल में बैठ कर हम आगये हैं वस्तुतः वक्ता का भी यही तात्पर्य्य था-क्योंकि सँसार में विशेष धर्म को ही माना जाता है। परन्तु सम्बन्ध से भी किसी धर्म को

मान लेना उपचार है। अथवा किसी ने कहा मचान पुकारते हैं। उस के उत्तर में कहा गया कि मंचान तो जड़ हैं। उन में पुकारने की शक्ति नहीं। किन्तु मचान पर बैठे हुये पुरुष पुकार रहे हैं। इस लिये तुम्हारा कहना ठीक नहीं। वास्तविक प्रयोजन धोके का यही है। कि वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ निकाल कर उस के पक्ष का निरास करना—यद्यपि छल करने वाला इस प्रकार के साधनों द्वारा जो ऊपर के तीन सूत्रोंमें वर्णन किये गयेहैं अपने विरोधी के पक्ष का खण्डन करता है—तथापि इस धोके से पक्ष की सत्ता में कुछ भी अन्तर नहीं होता—यहां पर आक्षेप्ता आक्षेप करता है।

प्रश्न—"वाक्छल में वोपचार छलं तद् विशेषात्" ॥ ५७ ॥

अर्थ—वाक् छल ही उपचार छल है क्योंकि इन दोनों में कोई विशेष गुण भेदोत्पादक नहीं हैं। वाक् छल में भी वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध शब्दों से परिणाम निकालाजाता है—ऐसा ही उपचार छल में वक्ता का अभिप्राय विपरीत ही निष्कर्ष प्रतिपादन कर धोका देते हैं। इस का उत्तर महात्मा गौतम जी देते हैं।

उत्तर—"न तदर्थान्तर भावात्" ॥ ५७ ॥

अर्थ—वाक्छल अर्थात् शब्दिक छल और उपचारछल अर्थात् सम्बन्ध से धोका देना एक नहीं है क्योंकि उन में बहुत अन्तर हैं। वाक्छल में नार्नार्थक शब्द के वक्ता भाव के विपरीत अर्थोंको लेकर उस के पक्ष का खण्डन किया जाता है और उपचार छल में दूसरे अर्थ नहीं किये जाते प्रत्युत वस्तु की सत्ता में जो विशेष सम्बन्ध रखने वाले गुण हैं। उन के द्वारा वस्तु की सत्ता का अभाव सिद्ध करके वक्ता के पक्ष का खण्डन किया जाता है। अब गौतम जी (सिद्धान्त कहते हैं)

सिद्धान्त-अविशेषे वा किञ्चित् साधर्म्यात्.........

अर्थ—यद्यपि छल की वार्ता में ऐकमत्य और किसी में वैपरीत्य है—अवं ऐकमत्य को लेकर तीनों एक हो जांयगे—तो विरोध को अवकाश न रहेगा। क्योंकि दो विरुद्ध गुणवाली वस्तुओं को एक नहीं कह सकते। यदि छलको दो प्रकार का माना जाय अर्थात् वाक् छल और सामान्य छल तो उस में तो इन में भी (?) कुछ मिलाप है—इस लिए छल तीन ही प्रकार का मानना युक्त है। एक

या दो मानना ठीक नहीं। क्योंकि तीनों में कुछ न कुछ भेद पाया जाता है। और जहां परस्पर भेद हो उसे ठीक नहीं कह सकते क्योंकि संयोग और विभाग का होना गुणों का सादृश्य और असा दृश्य पर अवलम्बित रहता है। अतएव जहां गुण वै चित्र्य पाया जायगा। वह वस्तु के अन्यत्व में भी कोई सन्देह नहीं। चूंकि तीनों प्रकार के छलों में अन्तर प्रतीत होता है अतः तीनों एक नहीं हैं यही सिद्धान्त है। (प्रश्न) जाति किसे कहते हैं ?

उत्तर—साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥५६॥

अर्थ—हेतु देने में जो प्रसङ्ग पैदा होजाता है वह जाति कहाता है। प्रसङ्गानुरूप गुणवाला या विपरीत गुणों वाला बतलाने में जातिसे ही काम लिया जाता है। अथ साधर्म्य से और वैधर्म्य से जो दोष देनाहै वह जाती है। क्योंकि साध्य (प्रतिज्ञा) के सिद्ध करने के लिये जहां प्रतिज्ञा के अनुकूल हेतु से काम लिया जाता है। वह साधर्म्य वाला हेतु कहलाता है। और जहां प्रतिकूल हेतु से काम लिया जाता है वह वैधर्म्य हेतु कहलाता है। जाति को लेकर साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान होता है। इसका सविस्तर वर्णन तो परीक्षा के प्रकरण में आयगा। (प्रश्न) निग्रह स्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर—'विप्रति पत्तिरप्रति पत्तिश्च निग्रह स्थानम्'६०

अर्थ-जहां कहने के अवसर पर अपने सिद्धान्त के अनुकूल युक्ति दी जाय उसे विप्रति पत्ति कहते हैं। या व्यर्थ और व्यस्त हेतुओं से काम लिया जाय-जिसका सम्बन्ध पदार्थ से कुछ भी न पाया जाय या हेतु कहने के समय हेतु ही न दिया जाय और बुद्धि उत्तर देनेकी शक्ति न रखती हो उसे अप्रति पत्ति कहते हैं। जब विवाद में यह दो अवस्थाएँ हो जांय कि युक्त हेतु के स्थान पर अयुक्त हेतु कहदिया जाय या युक्ति न देसके। तो वह निग्रहीत हो जाता है। अर्थात् उसका पक्ष रह जाता है। और वह विजित समझा जाता है। निग्रह स्थानों के लक्षण और प्रकारों का वर्णन अगले अध्यायों में परीक्षा के साथ २ आयगा। अतः उसकी इस स्थान पर अधिक विवृत्ति नही की जाती। (प्रश्न) निग्रह स्थान एक हैं या बहुत हैं ?

उत्तर-तद्वि कल्पा ज्जाति निग्रह स्थान बहुत्वम्॥६१॥

अर्थ—उनके विरोध के कारण से अर्थात् साधर्म्य और वैधर्म्य के बहुत प्रकार के होने से और युक्तियों के विरोध से निग्रह स्थान और जाति बहुत प्रकारकी हैं भाव यह है कि हरएक वस्तु में बहुत से गुण ऐसे हैं। जो दूसरों से मिलते हैं और बहुत से गुणोंमें प्रति कूल्य होता है। इस विभाग के कारण जाति बहुत प्रकार की हैं। जैसे मनुष्य और पशुओं में प्राणित्व रूप गुण समान है परन्तु पशु-बुद्धि शून्य प्राणी है और मनुष्य बुद्धि युक्त प्राणी है। इस लिए पहले प्राणी होनेके कारण दोनों प्राणी जाति में परिगणित हुए-फिर बुद्धि के कारण प्राणी बुद्धिमान् और पशु निर्बुद्धि होगये। इसी प्रकार पशुओं के अनेक प्रकार होजाते हैं। अब निग्रह स्थानों का भी यही हाल है। इनका अधिक विस्तार पांचवे अध्याय में आयगा। यहां तक महात्मा गौतमजी ने सोलह पदार्थों का उद्देश्य और उनके लक्षण साधारण रूपसे बतलाये। अर्थात् पहले यह बतलाया कि प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से मुक्ति होती हैं। फिर बतलाया प्रमाण चार प्रकार का है और प्रमेय बारह प्रकार का है। अर्थात् इस अध्याय में जानने के योग्य हरएक पदार्थ का वर्णन तो आगया। अब उनकी परीक्षा की जायगी। जिस से हर एक मनुष्य को पूर्ण ज्ञान हो जावे कि जो लक्षण महात्मा गौतम ने पदार्थों का किया है वह ठीक है। क्योंकि गौतमजी का सिद्धान्त यह है कि बिना परीक्षा किये किसी बात को नहीं मानना चाहिए। अब यदि स्वयं वे अपने शास्त्र में केवल लक्षणही वर्णन कर देते और उसकी परीक्षा न करते तो उन पर सिद्धान्त के विपरीत चलने का दोषारोपण होता इस लिए उन्हों ने अच्छी प्रकार से हर एक लक्षण और उद्देशकी समीक्षा करना आवश्यक समझा जिस का मूल्य अगले अध्यायों से प्रतीत होगा।

न्यायदर्शन के उर्दू तर्जुमे के हिन्दी अनुवाद का
पहला अध्याय पूरा भया।

ओ३म् ब्रह्मणे नमः

ओ३म् नमो ब्रह्मणे

ओ३म्

न्याय-दर्शनम्

अथ द्वितीयोध्यायः प्रारभ्यते ॥

(प्रश्न) परीक्षा किस प्रकार की जाती है? और महात्मा गौतम जी ने प्रमाण तथा प्रमेय की परीक्षा को आगे के लिए छोड़ कर प्रथम 'संशय' की परीक्षा को क्यों आवश्यक समझा क्योंकि— जैसे उद्देश्य और लक्षण क्रमशः कहे गये थे उसी क्रम से परीक्षा होनी चाहिये थी-(उत्तर) 'संशय के उत्पन्न हुए विना परीक्षा हो नहीं सकती अतः सब से पूर्व संशय की परीक्षा करना आवश्यक है'। (प्रश्न) परीक्षा करने के लिये वस्तु की सत्ता में सन्देह होता है या उसके लक्षणों में? (उत्तर) उद्देश्य और लक्षण दोनों की परीक्षा की गई है इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वस्तु की सत्ता में भी सन्देह हो सकता है और उसके लक्षण के विषय में भी "युक्त है या अयुक्त है?" सन्देह हो सकता है परीक्षा से दोनों प्रकार के सन्देहों को दूर करना अभीष्ट है। (प्रश्न) हर वस्तु की सत्ता की प्रामाणिकता उस (वस्तु) के लक्षण की सत्ता के प्रामाणिकत्व पर निर्भर है-क्योंकि 'गुणी' गुणों के समुदाय का नाम है और लक्षण में स्वाभाविक गुणों का ही वर्णन होता है यदि गुणों सत्ता [सिद्धि] न हो तो गुणी की सत्ता (सिद्धि) ही नहीं हो सकती अतः केवल लक्षण की परीक्षा से उसकी परीक्षा होसकती है। अब-'संशय' की परीक्षा के लिए पूर्वपक्ष का वर्णन करते हैं।

(संशय प्रतिपादक सूत्र)

सूत्र = समानानेक धर्माध्यवसायादन्यतर धर्माध्यवसायाद्वा नसंशयः ॥ १ ॥

अर्थ-दो प्रकार के विश्वासों [१] में वर्तमान साधारण धर्मों के ठीक ज्ञान होने से सन्देह नहीं हो सकता—अथवा साधारणरूप

से किसी पदार्थ के गुणों में समता (एकता) जानने से और यह विचार होने से कि इन दोनों पदार्थों में बहुत से गुण मिलते हैं और उनके गुणों को प्रत्यक्ष देखने से गुणी के ज्ञान में सन्देह नहीं होता। समान उसे कहते हैं जिसमें बहुत से धर्म मिलते हों और किसी एक गुण में विरोध हो—समान शब्द के उच्चारण से भिन्नता प्रकट होजाती है। जिस से सन्देह का होना सम्भव नहीं। जब यह प्रतीत हो जायगा कि यह दोनों पदार्थ भिन्न २ हैं। केवल कतिपय अंशों में गुणों की समता है तो दोनों पदार्थों के पृथक् पृथक् जान लेने से एक में दूसरे का सन्देह नहीं होता। यथा रूप और स्पर्श दो भिन्न २ पदार्थ हैं। जब दोनों का पृथक् २ ज्ञान हो जायगा तो एक में दूसरे का सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि सन्देह उस दशा में होता है जब कि एक पदार्थ में दूसरे के होने का भी सन्देह हो जब दो पदार्थों का ज्ञान एक में न हो उस समय संशय उत्पन्न नहीं होता—इस के खण्डन के लिए एक और हेतु देते हैं यह भी पूर्वपक्ष का ही सूत्र है।

सूत्र—विप्रतिपत्त्यव्यवस्था ध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

अर्थ—केवल वस्तु की ठीक २ व्यवस्था [परिणाम] न निकलने में संशय नहीं होता और नहीं विप्रतिपत्ति (विरुद्ध मति) से भी संशय नहीं होता—प्रश्न—प्रश्न में तो इसका वर्णन नहीं कि इन कारणों से ही संशय नहीं होता—तुमने क्योंकर यह मानलिया कि इन कारणों से संशय नहीं होता? (उत्तर) यतः इस सूत्र में पिछले सूत्र का ही निरास है अतःपूर्व सूत्र से यह अनुवृत्ति आती है। अर्थात् पिछले सूत्र से इतना विषय इस सूत्र में भी लेना चाहिए—अतः सूत्र का तात्पर्य यह है कि विरुद्ध सम्मति जैसे कोई मानता है कि आत्मा है—और दूसरा यह मानता है कि आत्मा नहीं है। इस विचार के सुनने से किसी प्रकार का संशय होना सम्भव नहीं क्योंकि जिसके अपने दिल में दो विरुद्ध विचार हों उसे संशय होसकताहै। दूसरे पुरुषोंकी सम्मतिके विरोधसे किसी प्रकार संशय नहीं हो सकता। द्वितीय—किसी वस्तु के ज्ञात अथवा अज्ञात होने के कारण से भी संशय नहीं उपजता। अर्थात् ऐसे विचार होने को कि इसका ज्ञात होना प्रामाणिक नहीं और इसके अज्ञात होनेकाभी ठीक ज्ञात नहीं होता। इससे भी संशय नहीं होता। इन तीनों बातों को संशय का कारण न मानने में अगले सूत्र में भिन्न २ कारण पर

अनुसन्धान करते हैं। पहले कारण अर्थात् 'सम्मति विरोध' के विषयमें यह सूत्र है।

सू०—विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥

अर्थ—सम्मति विरोध से उस रचयिता (मुसन्निफ) को जिस को उसका ज्ञान है संशय नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व सूत्र में मति वैपरीत्यादि को सर्वांश से संशय का कारण नहीं माना। अब उस को सविस्तर वर्णन करते हैं। यथा—एक विवाद के निर्णायक को जिसको दोनों वादियों के मति विरोध का ज्ञान हो चुका है कभी सन्देह नहीं होता। क्योंकि वह वास्तविक सिद्धान्त को जानता है। यदि कोई पुरुष यह कहे कि जिस पुरुष को उस मन्तव्य का ठीक ज्ञान नहीं उसको तो अवश्य ही सम्मति वैपरीत्य से संशय उत्पन्न हो जायगा। परन्तु यह विचार ठीक नहीं। क्योंकि जिस का सत्य ज्ञान नहीं है। उसको पूर्वसे ही सन्देह है। मति विरोध के श्रवण से सशय उत्पन्न नहीं हुआ इस लिए विप्रतिपत्ति दोनों प्रकारके मनुष्यके विचारमें संशय उत्पादनन नहीं करसकती। क्योंकि जो नैयायिक वास्तविक तात्पर्य्य को जानता है और वादियों ने अपने २ हेतुओं को सुनाकर उसको न्याय करने के लिए नियत किया है। उसको तो ठीक ज्ञान है मति विपर्य्य का वृत्तान्त उसे पूर्व ज्ञात है। अतः उसे संशय उत्पन्न होना सम्भव नहीं। और जो पुरुष तत्व से अनभिज्ञ है उसे पहले ही से संशय है—उसको भी विप्रतिपत्ति संशय का कारण नहीं हो सकता अतः विप्रतिपत्ति संशय कारण नहीं हो सकती। क्योंकि मनुष्य दो ही प्रकार के हो सकते हैं एक वह जो सत्य को जानता हो। और दूसरे वे जिन को सत्य का ज्ञान न हो। (प्रश्न) जब तुम यह मानते हो कि अनभिज्ञ को तो पहले सन्देह है ही तो तुम्हारे सन्देह की सत्ता से निषेध करना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि जिसकी सत्ता को तुमने स्वयं अङ्गीकार करलिया। उससे निषेध कैसा। (उत्तर) मैंने संशय के भाव अथवा अभाव की प्रतिज्ञा नहीं की—किन्तु विप्रतिपत्ति के संशय का कारण होने से निषेध किया है। हमारे इस सूत्र की बहस (विवाद) का भाव यह है। कि विप्रतिपत्ति किसी से मन में संसय उत्पन्न नहीं कर सकती। (प्रश्न) तुम्हारे शब्दों से संशय की सत्ता का पता मिलता है—उसका कारण विप्रतिपत्ति हो या और कोई। (उत्तर) जब कि कारण के विना कोई कार्य नहीं

हो सकता तो संशय के कारणों से उसकी उत्पत्ति न होने पर संशय की सत्ता स्वमेव नष्ट हो जायगी अतः दूसरे कारण की भी परीक्षा करके खण्डन करते हैं।

सूत्र-अव्यवस्था त्मनिव्यवस्थितत्वाचाव्यवस्थायाः॥४॥

अर्थ--मन में किसी वस्तु के तत्व विषयक सांदेहिक विचारों के स्थित होने या न होने से भी संशय उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् किसी वस्तु की सत्ता का सांदेहिक ज्ञान या शून्य का सांदेहिक ज्ञान संशय के उत्पन्न होने का कारण नहीं। संशय के लक्षण में दो प्रकार की अव्यवस्था अर्थात् सांदेहिक ज्ञान को संशय के उत्पन्न होने का कारण बतलाया था। इस सूत्र में उसका निषेध अर्थात् खण्डन विपक्षी की तरफ से किया गया विपक्षी उसके लिये यह युक्ति उपस्थित करता है कि ऐसा माना जांवे कि यह सांदेहिक ज्ञान आत्मा के स्वरूप में स्थित है। तो वह सांदेहिक ज्ञान नहीं कहला सकता, क्योंकि अव्यवस्था अर्थात् सांदेहिक ज्ञान सर्वदा बदलता रहता है, यदि ऐसा मानें कि सांदेहिक ज्ञान आत्मा के स्वरूप में स्थित नहीं, तो उसका होना ही प्रमाणित नहीं होता। और जिस सांदेहिक ज्ञान को संदेह का कारण माना था, उसके न होने से संदेह का शून्य होना प्रमाणित होगया। वस्तुतः बात तो यह है कि सांदेहिक ज्ञान को उनके स्वरूप में ठीक मानने से संशय की उत्पत्ति का सांदेहिक ज्ञान से होना असम्भव है। यदि सांदेहिक ज्ञान को स्वसत्ता में भी संशय-जनक माना जावे तो प्रथम उसको शून्य मानना पड़ेगा, जिससे कि वह किसी का कारण होना सम्भव नहीं द्वितीय आन्तर-तम प्राप्त होगा, कि संदेह का कारण सांदेहिक ज्ञान और उसका कारण संशय इसी तरह अनन्त क्रम होगा। अत एव अव्यवस्था संदेह का कारण नहीं हो सकता अब तृतीय कारण समान धर्म के प्रसंग में विचार करते हैं।

सूत्र-तथाऽत्यन्त संशयस्तधर्म्म सातत्योपपत्तेः॥५॥

अर्थ—इसी तरह संशय उत्पन्न करने वाले समान-धर्म के प्रत्येक समय ज्ञान होने से संशय नष्ट नहीं होसकेगा अर्थात् सर्वदा नैमित्तिक बना ही रहेगा क्योंकि जिस कपोल कल्पना को तुम मानते हो कि समान धर्मके ज्ञान से संशय अर्थात् संदेह पैदा होता है उस समान धर्म्म को सर्वदा स्थित रहने से संशय का हमेशा

रहना सम्भव प्रतीत होता है। कुतः कोई वस्तु समान धर्म से रिक्त नहीं होती और न कभी किसी को ऐसा विचार होता है, कि यह धर्म्म अर्थात् विशेष्य समान धर्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण से रहित है। किन्तु समान धर्म से सहित ही विशेष्य का ज्ञान प्रत्येक विशेषण के सहित होता है। यहां तक विपत्ती ने संशय अर्थात् संदेह के प्रत्येक कारण पर जिनका वर्णन प्रथमाध्याय के सूत्र २३ में आया था युक्तियां देकर उन से संशय की उत्पत्ति का खण्डन करके संशय की सत्ता का निषेध अर्थात् शून्य परिमित किया, अब अगले सूत्र में उनपात्तिक युक्तियों का उत्तर दिया जायगा।

सूत्र-यथोक्ताध्यवसायादेवतद्विशेषापेक्षात् संशयेनासंशयोनात्यन्त संशयोवा ॥ ६ ॥

अर्थ—संशय की उत्पत्ति का न होना अथवा उसकी सत्ता का खण्डन किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं क्योंकि केवल समान धर्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण का ज्ञान होना ही संशय का कारण नहीं यदि विपत्ती यह कहे कि आप के पास क्या प्रमाण है; कि केवल समानधर्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण ही संशय का कारण नहीं तो उसका उत्तर महात्मा गौतम जी ने यह दिया है कि जिस सूत्र संख्या २३ में समान धर्म के ज्ञान को संशय का कारण माना है उसमें केवल समान धर्म के ज्ञान अर्थात् प्रत्येक विशेषण के ज्ञान को संशय का कारण नहीं बतलाया किन्तु समान धर्म के ज्ञान और विशेष्य धर्म की अपेक्षा को अर्थात् प्रत्येक विशेषण के मालूम होने और नवीन विशेषणके प्रतीत करनेकी इच्छाहोनेका नाम संशयहै और वह यावत् विशेष्य धर्म अर्थात् नवीन विशेषण का ज्ञान न हो जावे तावत् प्रत्येक विशेषण के ज्ञान होने के पश्चात् भी स्थिर रहेगी और इसी का नाम संशय है अर्थात् प्रत्येक विशेषण तो पर्याप्त हैं और नवीन विशेषण के प्राप्त करने की इच्छा है। (प्रश्न) समान धर्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण के जानने की इच्छा क्यों नहीं होती नवीन विशेषण के जानने की इच्छा क्यों होती है। (उत्तर) यावत् समान धर्म का ज्ञान तो प्रत्यक्ष होने से प्रथम हो जाता है। तब विशेष्य धर्म के ज्ञान की इच्छा उत्पन्न होती है, क्योंकि जो वस्तु स्वप्रकाश में हो उसकी इच्छा नहीं उत्पन्न हो सकती, क्योंकि इच्छा प्राप्ति के

अर्थ उत्पन्न होती है। और वह वस्तु प्रथम ही प्राप्त है। अतएव समान का ज्ञान होना कहा गया है। पुनः उसके बोध की इच्छा क्यों होगी ? (प्रश्न) क्या समान धर्म संशय अर्थात् संदेह का कारण नहीं ? (उत्तर) समान धर्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण संशय का कारण नहीं, किन्तु प्रत्येक विशेषण का ज्ञान और नूतन विशेषण के जानने की इच्छा संशय का कारण है। (प्रश्न) पुनः लक्षण करते समय ऐसा क्यों नहीं कहा? (उत्तर) विशेष्यकी अपेक्षा अर्थात् बोध की आवश्यकताके कथनसे यह वृत्तान्त प्राप्त होजाता है। (प्रश्न) समान धर्म के ज्ञानमें तो आपने यह युक्ति उपस्थितकी, परन्तु विप्रतिपत्ति से संशयका निषेध अर्थात् खण्डन किया है, उसका क्या उत्तर है ? (उत्तर) जब दो मनुष्य एक विषय पर विवाद करते हैं तो श्रोता को यह विचार उत्पन्न होता है। कि यह प्रत्येक युक्तियां तो मैं सुन रहा हूं परन्तु कोई नूतन युक्ति जिस से सत्य असत्य का प्रमाण प्राप्त हो मुझे परयाप्त करनी चाहिये, अस्तु यह नूतन युक्ति के प्राप्त करने की आवश्यकता ही संशय होने का प्रमाण है। और जो यह कथन किया गया कि "न्यायाधीश" को दो मनुष्यों की विप्रतिपत्ति से उस वस्तु के तत्व विषयक शंका उत्पन्न नहीं होती, इस का कारण यह है; के उस को समान धर्म्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण का ज्ञान और विशेष्य धर्म के जानने की इच्छा नहीं होती यदि यह होती तो शंका का उत्पन्न होना अत्यावश्यक था। शंसय की उत्पत्ति तृतीय कारण अव्यवस्था अर्थात् सशंकित ज्ञान का जो मिटाया गया उस का उत्तर यह है, कि यह जो विपक्षी ने कथन किया है, उसका उत्तर यह है, कि दो विप्रतिपत्ति पक्षी मनुष्यों की युक्तियों को श्रोता सुनता है, और यह विचार करता है, कि इसके तत्व विषयक नूतन युक्ति को नहीं जानता, जिस से दोनों में से एक के विचार को सत्य और दूसरे के परामर्श को असत्य प्राप्त करूं, अब यह विचार भी संशय है विपतिपत्ति के होन से दूर नहीं हो सकता अतएव शंका की सत्ता प्रत्येक प्रकार से प्रमाणित है। और सर्वपरिक्षकों की परीक्षा से इसका प्रमाण प्राप्त हो सकता है। (प्रश्न) संशय किस को कहते हैं ? (उत्तर) अल्पज्ञ जीवात्मा को (प्रश्न) सशय का यथार्थ कारण क्या है ? (उत्तर) जीवात्मा की अल्पज्ञता ही संशय का यथार्थ कारण है। (प्रश्न) यदि संशय के अस्तित्व को न माना जावे तो क्या हानि उत्पन्न होती है ? (उत्तर)

यदि संशय अर्थात् शङ्का की सत्ता ही संसार में न होती तो मनुष्य शब्द का सार्थक अर्थ यथार्थ न होता क्योंकि मनुष्य का अर्थ परीक्षकका है और जब तक संशय न हो, तब तक परीक्षाका होना असम्भव है। (प्रश्न) संशय के होने का प्रमाण क्या है।

उत्तर—सू० 'यत्रसंयस्तत्रैव मुत्तरोत्तर प्रसङ्गः' ॥७॥

अर्थ—जहां २ सन्देह उत्पन्न होता है वहां ही प्रश्नोत्तर के प्रसङ्ग से परीक्षा होती है अर्थात् जब विपक्षी उसका खण्डन करता है। तब प्रत्येक सत्ता के मानने वाले को उसे परिमित करना पड़ताहै। इस से प्रामाणिक होता है कि सँसार में प्रश्नोत्तर और परीक्षा को देख कर प्रत्येक मनुष्य को संशय होना प्रतीत होता है। अत एव संशय ही परीक्षा का कारण है। और कोई कार्य्य विना कारण के नहीं होता क्योंकि संसार में परीक्षा होती सब मनुष्य देखते हैं, जिस से संशय की सत्ता का प्रमाण मिलता है। यदि संशय न होता तो संसार में परीक्षा की प्रतीत भी दृष्टि गोचर नहीं होगी, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की परीक्षा संशय के कारण होती है, अतएव प्रथम ही संशय की परीक्षा कीगई। अब आगे प्रमाण आदि परीक्षा लिखी आवेगी। (प्रश्न) परीक्षा से क्या लाभ है? (उत्तर) परीक्षा से प्रत्येक वस्तु का ज्ञान विश्वास पूरित होजाताहै और विश्वास पूरित ज्ञान के होने से उस पर कर्म होता है, और कर्म से फल प्राप्ति होती है, वर्तमान में जो मनुष्य बहुत सी बातों को मानते हुये उस पर कर्म नहीं करते, उसका साफ कारण यह है कि उनके मनुष्यों को उन कार्य्यों के सुखदायक होने का विश्वास पूरित ज्ञान नहीं क्योंकि मनुष्य सुख चाहता है, और दुःखसे बचने की इच्छा करता है, परन्तु विश्वास पूरित ज्ञान के न होनेके कारण से बहुत दुःख देने वाले कार्य्यों का न त्याग करते हैं और न सुख दायक कार्य्यों को करते हैं, अब विपक्षी प्रमाण की परीक्षा करता है और यह सूत्र पूर्वपक्ष अर्थात् पाक्षिक युक्तियों के हैं।

सूत्र—प्रत्यक्षादीनाम प्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥८॥

अर्थ—प्रत्यक्षादि का प्रमाण मानना ठीक नहीं क्योंकि, इनकी सत्ता अर्थात् प्रमाण होना तीनों काल में प्रमाण को प्राप्तःनहीं होता क्योंकि तत्येक प्रमाण का ज्ञान इन तीनों दशाओं से पृथक् नहीं हो

सकता। प्रथम यह है, कि प्रमाण का ज्ञान प्रमेय ज्ञान से प्रथम हो, द्वितीय यह है, कि प्रमेय के बोध करने के पश्चात् प्रमाण का ज्ञान हो तृतीय दशा यह है, कि प्रमाण और प्रमेयका ज्ञान एक ही साथ हो जावे। यहां प्रमाण से प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण लेकर उसको शून्य परिमित करने के वास्ते तीनों काल में प्रत्यक्ष का परिमित न होना विपक्षी ने युक्ति उपस्थित की, अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या कारण है, कि प्रत्यक्ष प्रमाण तीनों काल में प्रमाण को प्राप्त नहीं होता, उसके वास्ते विपक्षी अगले सूत्रों में युक्ति उपस्थित करता है। क्योंकि विवादी मनुष्य विना युक्ति किसी विवादको नहीं मानते यदि कोई पुरुष यह प्रश्न उपस्थित करे, कि विना युक्ति मानने में क्या हानि है, क्योंकि अल्पज्ञ पुरुष युक्ति से प्रत्येक वस्तु की परीक्षा तो कर ही नहीं सकता कुछ न कुछ बातें माननी ही पड़ती हैं, परन्तु ऐसा मानने से प्रथम तो मनुष्य की मननशीलता जिसके कारण से मनुष्य दूसरे पशुओं से विशेष गिना जाता है, और जो कुदरती तौर पर शिशु अवस्था से ही प्राप्त होता है, बिलकुल हानि कारक है। परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा का कोई कार्य्य हानिकारक नहीं तो उसका मनुष्य की प्रकृति में मननशीलता रखना किसी प्रकार भी हानिकारक नहीं होसकता यदि येनकेन प्रकारेण यह मान लिया जावे, कि-प्रकृतिने मननशीलता मनुष्यकी प्रकृतिमें विना लाभ रक्खा तो मनुष्य किसी विषय को सत्यासत्य कह ही नहीं सकता, उस दशा में एक योगी, और अज्ञ के कथन में हठ करने पर किसी को अशुद्ध नहीं कहसकते प्रत्येक को शुद्ध मानना पड़ेगा। जिस से एक वस्तु की बाबत दो हठ सम्बन्धी सम्मतियों का पक्षी और विपक्षी का मान लेना असम्भव हो जायगा इस वास्ते प्रत्येक वस्तु विषयक युक्तियों से परीक्षा करना आवश्यक समझ कर अब प्रमाण के शून्य परिमित करने के लिये युक्तियाँ उपस्थित कीजाती हैं। (प्रश्न) प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रमेय ज्ञान से प्रथम मानने में क्या हानि है?

उत्तर--पूर्वंहि प्रमाण सिद्धौ नेन्द्रियार्थ सन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान प्रमेय ज्ञान से पूर्व लेंगे तो इन्द्रिय और अर्थ अर्थात् वस्तु के विषय से प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा नहीं हुआ, क्योंकि उसको प्रमेय ज्ञान से पूर्व माना गया है। और

जो इन्द्रियार्थ योग से उत्पन्न न हो। वह पूत्यक्ष कहला ही नहीं सकता कुतः पूत्यक्ष का लक्षण यही है। कि वह इन्द्रियार्थके संयोग से पैदा हो जब प्रत्यक्ष के लक्षण में उसका आना सम्भव नहीं तो उसे प्रत्यक्ष कहना परस्पर विरुद्ध है। क्योंकि यह नियम है। कि प्रत्येक वस्तु की सत्ता लक्षण और प्रमाण से ही मानी जाती है। केवल कथन मात्र से किसी वस्तु की सत्ता का सिद्ध होना असम्भव है। अब प्रत्यक्ष का जो लक्षण आपने कथन किया है, वह प्रमेय ज्ञान से प्रथम उपस्थित होने वाले ज्ञान में नहीं घट सकता अतएव प्रमेय ज्ञान से पूर्व तो प्रत्यक्ष प्रमाण होना असम्भव है। (प्रश्न) यदि यह माना जावे, कि प्रमेय के ज्ञान होने के पश्चात् प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है, तो इस में क्या हानि है ?

उत्तर-"पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः" ॥ १० ॥

अर्थ-यदि यह मानलोगे कि प्रमेय ज्ञानके पश्चात् हम प्रत्यक्ष प्रमाण के ज्ञान को मानेंगे तो प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान न होगा किन्तु प्रमेय ज्ञान के लिए ऐसे प्रमाणकी जरूरत ही नहीं, क्योंकि प्रमाण की आवश्यकता केवल प्रमेय के ज्ञानके लिये है। जब प्रमेय का ज्ञान विना प्रमाण के हो गया, तो अब प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है। क्योंकि जिस वस्तु क ज्ञान के वास्ते प्रमाण का आवश्यकता था, उस वस्तु का ज्ञान प्रथम ही हो गया, इस वास्ते यह कथन विलकुल ठीक नहीं है के प्रमेय ज्ञान के बाद प्रत्यक्ष प्रमाण उत्पन्न हो जावेगा। यदि कोई मनुष्य यह कहे कि प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होना नहीं मानते, किन्तु प्रमाण केवल प्रमेय ज्ञान के दृढ़ करने के लिए है, तो यह कहना सरासर असत्य होगा। कुतः प्रीति अर्थात् वस्तु की योग्यता को जानने वाले शास्त्र का नाम प्रमाण है। और विना साधन के किसी मनुष्य को किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। और विना साधन के ज्ञान की उत्पत्ति मानने से प्रज्ञा चक्षु को रूप का ज्ञान होना चाहिए। यदि कथन करो कि उसको विना चक्षु के रूप का ज्ञान नहीं हो सकता तो विना साधन के ज्ञानका न होना परिमित होगया, जब विना साधन के प्रमाता अर्थात् जीवात्मा को किसी प्रमेय का ज्ञान होना सम्भव नहीं तो प्रमेय ज्ञानके पश्चात् प्रमाण की सत्ताका अनुभव करना विलकुल असत्य है, अतएव प्रमेय ज्ञान के पश्चात् भी प्रमाण का ज्ञान होना असम्भव है। (प्रश्न)

हम एक काल में प्रमाण और प्रमेय दोनों का ज्ञान होना मानते हैं। इस में किस पक्ष को उठाओगे ?

उत्तर—"युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थं नियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम्" ॥ ११ ॥

अर्थ-यदि ऐसा मानोगे कि एक ही समय में प्रमाण और प्रमेय दोनों का ज्ञान होजावेगा, तो यह असत्य है। क्योंकि मन का यह लक्षण है कि उस में एक काल में दो ज्ञान उत्पन्न नहीं होसकते अर्थात् ज्ञान नियत कर्म्मवृत्ति अर्थात् क्रमानुसार हुआ करता है एकही साथ दो ज्ञान का होना असम्भव है। तो तुम्हारा यह विचार किस तरह सत्य होसकता है, कि प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान युगपत् होजावेगा। उपरोक्त इन तीनों युक्तियों के द्वारा विपक्षी ने यह परिमित कर दिया कि प्रत्यक्ष प्रमाणों का किसी प्रकार भी परिमित होना सम्भव नहीं। अतएव उनकी सत्ता का होना सत्य ही नहीं। कुतः जिस प्रमेय ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता थी, उसके साथ तीनों काल में प्रमाण का विषय परिमित नहीं होसकता। जिसका विषय-तीनों काल में परिमित न हो उस के होने का क्या प्रमाण है। विपक्षी के इस वाद का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं उपरोक्त चार सूत्र पूर्व पक्ष अर्थात् विपक्षी की ओर से हैं। और उनका उत्तर महात्मा गौतमजी की ओर से यहां कुछ प्रश्नोत्तर की रीति पर लिखे जाते हैं, जिससे कि तात्पर्य पूरा निकल आवे।

(प्रश्न) क्यों! मनमें एक कालमें दो ज्ञान की उत्पत्ति न मान ली जावे ? (उत्तर) मन बहुत ही सूक्ष्म अर्थात् अणु है उसमें एक काल में दो ही ज्ञानका होना सम्भव नहीं उसका विशेष विचार मन की परीक्षा के समय पर किया जायगा (प्रश्न) हम एक काल में दो ज्ञान उत्पन्न होते देखते हैं। अर्थात् किसी शब्द के सुनने से उस शब्द का और उस के अर्थों का ठीक २ ज्ञान होता है। जिसके साथ २ होने में कोई संशय नहीं क्योंकि उस में काल का कोई भेद दृष्टि गोचर नहीं होता। (उत्तर) यह वार्त्ता सत्य नहीं है। क्योंकि काल के सूक्ष्म प्रवाह को प्रत्येक जन बोध नहीं कर सकता, जिससे एक निमेष को प्रत्येक मनुष्य समय का बहुत लघु भाग विचार करता है। उसमें साठ पल एक दूसरे के पश्चात् व्यतीत होजाते हैं। अतएव एक ही काल नहीं कहला सकता, कुतः

शब्द के श्रोत्र में जाने के पश्चात् उसके अर्थों का ज्ञान होता है। द्वितीय यह उदाहरण ठीक नहीं, क्योंकि दो ज्ञान नहीं, किन्तु शब्दार्थ सम्बन्ध से दोनों का ज्ञान एक ही कहना ठीक है। (प्रश्न) शब्द और अर्थ दो पृथक् २ वस्तु हैं। अतएव इनका ज्ञान भी पृथक् २ होगा क्योंकि बहुत से मूर्ख मनुष्य शब्द सुन कर भी अर्थ के ज्ञानसे अनभिज्ञ रहतेहैं। यदि शब्दार्थ एकहोते तो जिसको शब्द का ज्ञान होता, उसको अर्थ का बोध होना आवश्यक था परन्तु ऐसा बहुत स्थानों पर नहीं होता, जिस से शब्दार्थ का पृथक् होना परिमित होता है। अतएव शब्दार्थ का ज्ञान दो वस्तुओं का ज्ञान है। (उत्तर) आप के इस कथन से साफ़ प्रतीत होगया, कि मूर्ख मनुष्यों को शब्द के साथ अर्थ का ज्ञान नहीं होता जिस से एक काल में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं हुआ और जानने वाले को शब्द के सुनने के पश्चात् उसके जाने हुए अर्थ की स्मृति होती है। अतएव एककाल में दो ज्ञान नहीं होते, इसका उत्तर महात्मा गौतम जी यह देते हैं।

'त्रैकाल्या सिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः' ॥ १२ ॥

अर्थ तीनों काल में परिमित न होने से आपका खण्डन करना परिमित नहीं होसकता, क्योंकि खण्डन तीन अवस्थाओं के सिवाय और नियम से होना असम्भव है या तो प्रमाण ज्ञान से प्रथम उसका खण्डन होगा, अथवा प्रमाण ज्ञान के सहित अथवा प्रमाण ज्ञान के पश्चात् अब तीनों अवस्थाओं में खण्डन सत्य नहीं क्योंकि यदि यह कथन किया जावे, कि प्रमाण ज्ञान के प्रथम उसका खण्डन करेंगे तो बिल्कुल असत्य है, क्योंकि किसी वस्तु के पश्चात् उसका खण्डन हो सकता है, जिस वस्तु का ज्ञान ही नहीं उसकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं और जिस की सत्ता का ज्ञान नहीं उसका खण्डन होना असम्भव है। यदि कथन करो कि प्रमाण की सत्ता के ज्ञान के पश्चात् उस का खण्डन करेंगे, तो भी ठीक नहीं क्योंकि जिस वस्तु की सत्ता का पूरा ज्ञान होजावे उस का खण्डन किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं यदि कहो, कि एक काल में प्रमाण और उसकी सत्ता का खण्डन होगा तो यहां फिर वही तुम्हारी विरुद्ध युक्ति उपस्थित होजायगी। अतएव आपकी यह युक्ति कि तीनोंकाल में परिमित न होने से प्रत्यक्षादि

प्रमाण नहीं हैं, विलकुल असत्य है। क्योंकि-तुम्हारा खण्डन भी तीनों काल में परिमित नहीं होता, जिस से पूरा पता मिलता है, कि युक्ति असिद्ध है। क्योंकि इसकी सत्ता पूरे तात्पर्य्य के स्थान में स्वसत्ताको परिमित नहीं करसकती। इसके खण्डन में महात्मा गौतम आगे और युक्ति उपस्थित करते हैं।

सूत्र–'सर्व्व प्रमाण प्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः' १३।

अर्थ—यदि प्रमाणों का खण्डन असत्य माना जावे तो खण्डन होना असम्भव है। खण्डन के सत्य और असत्य होने में किसी न किसी प्रमाण की आवश्यकता है, जब प्रत्येक प्रमाण की सत्ता नष्ट होगई तो उस खण्डन को सत्य परिमित करनेके लिये कोई प्रमाण ही नहीं अथच सत्य का प्रमाण न मिलने से खण्डन स्वमेव असिद्ध होगया। (प्रश्न) खण्डन क्यों असिद्ध होगा सम्भव है, कि-सिद्ध हो क्योंकि सत्या सत्य के वास्ते प्रमाण आवश्यक है, उसका असिद्ध कहदेना किस प्रकार सत्य होसकता है। (उत्तर) प्रमाण की आवश्यकता भाव अर्थात् सत्ता के परिमित करने के लिये होती है। शून्य के वास्ते नहीं। जो खण्डन करने वाला विपक्षी है। उसका कार्य्य है, कि खण्डन को परिमित करले और जबतक खण्डन का पक्ष परिमित न होजावे, तबतक वह स्थायीरूप से स्थिरही नहीं और प्रमाणों का खण्डन परिमित न हुआ तो प्रमाण परिमित होगये। (प्रश्न) यदि प्रमाण के खण्डन में प्रमाण न होने से उस की सत्ता परिमित नहीं होती और प्रत्येक वस्तुकी सत्ताके वास्ते प्रमाण की आवश्यकता हो, तदपि प्रमाण का खण्डन होजायगा, क्योंकि प्रमाण को भी अपनी सत्ताके वास्ते द्वितीय प्रमाण की आवश्यकता है। और द्वितीय प्रमाण को तृतीय प्रमाण की एवमेव यह प्रसङ्ग अनन्त होजावेगा। यदि यह कथन किया जावे, कि प्रमाण के वास्ते किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, तो तुम्हारा सिद्धान्त नष्ट होगया, कि प्रत्येक वस्तु की सत्ता विना प्रमाण के विश्वासरूप नहीं होसकती। जब आपके प्रमाण को ही प्रमाण की आवश्यकता है, और तुम उस को विना प्रमाण सिद्ध जानते हो, तो यह सिद्धान्त ठीक न रहा, कि प्रत्येक सत्ता के लिये प्रमाण की आवश्यकता है। जब यह सिद्धान्त ठीक न रहा तो प्रमाणों का खण्डन ठीक है। (उत्तर) प्रत्येक वस्तु की मूल होती है। परन्तु मूल की मूल नहीं होती, अतएव मूल

सर्वदा विना मूल के मानी जाती है। चक्षु प्रत्येक वस्तु के रूप को देखती है, परन्तु चक्षु के देखने के वास्ते किसी द्वितीय चक्षु की आवश्यकता नहीं। परन्तु चक्षु का प्रतिबिम्ब किसी दूसरी वस्तु में चक्षु ही से देखा जाता है। अतएव प्रमाण के प्रामाणिक करने के लिये किसी द्वितीय प्रमाण की आवश्यकता नहीं, किन्तु प्रमाण स्वयमेव सिद्ध है। प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को देखने के वास्ते चक्षु की आवश्यक्ता है। और विना चक्षु के रूप का ज्ञान होना सम्भव नहीं, परन्तु चक्षु स्वयमेव द्वितीय चक्षु बिना स्वप्रतिबिम्ब के द्वारा अपने रूप को देखती है। एवमेव प्रमाण को परिमित होना प्रमेय ज्ञान के द्वारा होजाता है। किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। अतएव न सिद्धान्त का खण्डन होता है और नहीं अनवस्था होती है। आगे चल कर प्रमाणों के प्रमाणित करने के वास्ते एक और युक्ति उपस्थित करते हैं।

सू०-तत्प्रामाण्येवानसर्वं प्रमाणविप्रति षेधः॥ १४ ॥

अर्थ-यदि इस खण्डन को, कि प्रत्यक्षादिप्रमाण नहीं हैं। प्रमाण देकर परिमित किया जावे तो खण्डन के वास्ते प्रमाण के मिल जाने से खण्डन का मूल प्रमाण पर जा रहेगा। और जिस खण्डन का मूल प्रमाण पर हो वह प्रमाण के नष्ट होने पर किसी प्रकार भी स्थित नहीं रह सकता। जब खण्डन स्थित न रहा तो विपक्षी का कुल पक्ष ही नष्ट हो गया। (प्रश्न) तुमने विपक्षी की युक्ति का खण्डन करके प्रमाणों को सिद्ध कर दिया, परन्तु प्रमाण की सत्ता में कोई युक्ति नहीं दी-(उत्तर) यदि किसी वस्तु के खण्डन में जो युक्तियां उपस्थित की जावें और वह असत्य सिद्ध हो जावें। तो विपक्षी का पक्ष स्थित रहता है। (प्रश्न) यद्यपि विरुद्ध युक्तियों के खण्डन से विपक्षी का पक्ष स्थित रहता है। परंतु उसके सत्य होनेमें फिर भी संशय रहता है। जब तक कि विपक्षी अपने पक्ष के प्रतिपादन में अपनी युक्तियां उपस्थित न करे। अतएव जब तक प्रमाणों की सत्ताके सत्य होनेमें युक्तियां न मिलजावें,तबतक पक्ष सिद्ध नहीं कहा जासक्ता। (उत्तर)जो मनुष्य किसी विषयके खण्डनमें युक्तियां उपस्थित करे। यदि वह युक्तियां असिद्ध हो जावें तो निग्रह स्थान में आजाताहै। उसका कोई स्वत्व नहीं रहता-परन्तु आगे इसविषय पर और भी युक्तियां उपस्थित होंगी।

सूत्र०—त्रैकाल्यप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धि-वत्तत्सिद्धेः ॥ १५ ॥

अर्थ—तीनोंकाल में होने का जो खण्डन किया गया वह विना युक्तियों के है। जैसा कि प्रथम यह हो चुका है, कि प्राप्त होने का कारण और जो वस्तु मालूम हो। इन दोनोंमें से किसी एकका कहीं दूसरे से प्रथम और कहीं पश्चात्, और किसी जगह एक साथ होना, सिद्ध होनेसे और कोई खास नियम न होनेके कारण जहां जैसा हो वहां वैसाही कथन करना चाहिये। इसका उदाहरण पहले दे चुके हैं। यहां केवल नमूने के तौर पर बयान किया है। कि शब्द से बाजों की सिद्धि होने के अनुसार प्रमाण की सिद्धि होने से तीनों काल में होने का खण्डन होना असम्भव है। क्योंकि किसी समय बीन सितारादि बाद्यों का शब्द के द्वारा अनुमान किया जाता है। उस समय वाद्य जानने योग्य वस्तु और शब्द जानने का कारण होता है। ऐसे ही पूर्व सिद्ध प्रमेय अर्थात् मालूमात के पश्चात् उत्पन्न होने वाले प्रमाणों के द्वारा सिद्धि देखी जाती है। इसमें तीनों काल में प्रमाण होने का पक्ष विना युक्ति है। इसके बोध से यह पता लगता है। कि यदि वाद्य किसी मकान में वज रहा हो जहां से हमको दृष्टि गोचर न हो, तो उस का ज्ञान आवाज से ही होसकता है। विना आवाज के उसका ज्ञान नहीं हो सकता और आवाज के होते ही यह मालूम होने लगता है। कि "वीन" वजरही है या "बांसरी" वजरही है। अब बांसरी या बीन के मालूम होने का कारण आवाज प्रमाण है। अथवा चक्षु श्रोत्र नासिकादि से प्रमेय का ज्ञान होता है अतएव प्रमाण को पश्चात् सिद्ध होने में जो युक्ति दीगई थी। सो प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि न होगी। इस युक्ति से जो तीनों काल में न होना सिद्ध कियागया। वह ठीक नहीं एक ही वस्तु जिस समय किसी को प्राप्त हो तब प्रमाण कहलाती है। और जब जानने योग्य हो तब प्रमेय कहलाती है। इसका उदाहरण अगले सूत्र में बयान किया जाता है। (प्रश्न) उपरोक्त सूत्रों में एक प्रकार का चक्र सा पाया जाता। जिससे सत्य वार्ता का पता लगना कठिन प्रतीत होता है। क्योंकि यदि प्रमाणों का खंडन ठीक मान लिया जावे तो खंडन के सत्य या असत्य होने का प्रमाण नहीं मिल सकता। यदि उसको असत्य

माना जावे तो प्रमाणों के द्वारा प्रमाणों को मालूम करना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि प्रमाण जब सत्य माने जावेंगे तो प्रमिति अथवा सत्य ज्ञान का कारण ही समझ कर उन्हें माना जावेगा। तो प्रमाणों के मालूम करने के वास्ते यह जरूरी और दूसरे कारणों की तलाश भी आवश्यक होगी। और उन का प्रमाणों से पृथक होना आवश्यक है। क्योंकि इन प्रमाणों के शून्य होने की परीक्षा की जावेगी। उस समय यह प्रमाण तो प्रमेय हो जावेंगे। और कोई प्रमेय विना प्रमाण के सिद्ध न हो सकेगा यही नियम माना जावे तो प्रमाण किस प्रकार प्रमाणित होंगे। यदि यह कहा जावे, कि इनमें से जो एक की परीक्षा करेंगे और दूसरा उसके वास्ते कारण हो जावेगा तो प्रमाणों की सिद्धि में अन्योन्याश्रय होगा। जिससे किसी एक का स्थित होना कठिन हो जायगा। (उत्तर) यदि नियमानुसार दृष्टि की जावे तो कुछ भी कठिन नहीं क्योंकि हमारे सामने बहुत से उदाहरण उपस्थित हैं। यथा पिता और पुत्र में जब किसी को पिता कहा जावेगा, तो उसके वास्ते पुत्र का होना आवश्यक होगा और जब पुत्र कहा जावेगा, तो पिता का होना आवश्यक है। विनापुत्र के होने के कोई पिता नहीं कहला सकता। और विना पिता के कोई पुत्र नहीं हो सकता। इससे साफ प्रतीत होता है, कि यह बातें परस्पर सा पेक्ष है और जिस बात का प्रमाण प्राकृतिक नियमों से मिलजावे। वह कभी असत्य नहीं होसकती। अतएव प्रत्येक हेतु के वास्ते उदाहरण का होना आवश्यक होगा। और जिस पक्ष के वास्ते युक्ति और उदाहरण दोनों प्राप्त हों उसको किसी प्रकार भी असिद्ध कहना ठीक नहीं और युक्ति की असिद्धता भी उदारण से प्रतीत होजाती है। इस पर एक उदाहरण देकर समझाते हैं।

सू०—प्रमेयता च तुला प्रामाण्यवत् ॥ १६ ॥

अर्थ-प्रमाण की परीक्षा के समय उसका प्रमेय होना तुला के प्रमाण की तरह है जिस प्रत्येक वस्तु के भार करने में कांटे और बाट प्रमाण समझे जाते हैं, किन्तु तुला और बाट का भार मालूम करना होता है अर्थात् इस संशय के होने पर कि इस बाट का भार ठीक है अथवा नहीं। उस के प्रमाण के वास्ते दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होती है, अर्थात् दूसरे बाट से भार करने के विना बस

वादका भार ठीकहोना साफ़ तौरपर मालूम नहीं हो सकता। परन्तु इसके वास्ते कौन प्रमाण होता है। उन्हीं प्रमेय में से कोई प्रमेय ही उस के भार करने के वास्ते प्रमाण वन जाता है। अतएव प्रत्येक प्रमाण और प्रमेय समझना चाहिये, कि जव वह ज्ञान का कारण होगा तव प्रमाण कहलायगा और जव ज्ञान का विषय होगा तव प्रमेय कहलायगा। आत्मा ज्ञान का विषय होने से प्रमेय में गिना जाता है परन्तु स्वतन्त्र होने से वह प्रमाता कहा जाता है और ज्ञान वाहरी वस्तुओं के जानने का कारण होने से प्रमाण कहलाता-है और ज्ञान का विषय होने से प्रमेय भी होता है और प्रमाण और प्रमेय से पृथक् होने से ठीक २ ज्ञान कहलाता है। अतएव प्रत्येक अवसर पर जैसा विशेषगुणों से प्रतीत हो वैसा ही समझना चाहिये। इसी प्रकार कारक शब्द का भी फैसला होता है। यथा— वृक्ष खड़ा है, वृक्ष के खड़े होने में दूसरा सहायता करने वाला नहीं किन्तु खड़े होने में स्वतन्त्र है, इसी वास्ते कर्ता समझा जाता है। क्योंकि स्वतन्त्रता से क्रिया करने वाले को कर्ता कहते हैं। वृक्ष को देखता। यहाँ चक्षु के द्वारा देखने योग्य वस्तु होने से वृक्ष कर्म है। वृक्षसे चन्द्रमा को देखनेमें देखनेका कारण होनेसे कारण कहलाता है। (प्रश्न) कारण किसे कहते हैं? (उत्तर) जो कर्ता का कर्म्म करने में सहायक हो वह कारण कहलाता है। (प्रश्न) सम्प्रदान किसे कहते हैं? (उत्तर) जिसके वास्ते कोई कर्म किया जावे वह सम्प्रदान कहलाता है। वृक्ष से पत्ता गिरता है इस स्थान पर वृक्ष अपादान है। (प्रश्न) अपादान किसे कहते हैं? (उत्तर) जो किसी वस्तु के पृथक् होजाने से निश्चल वना रहे उसे उपादान कहते हैं। वृक्ष में जन्तु हैं। इस स्थान पर वृक्ष उन जन्तुओं का आधार है। जो किसी वस्तु का आधार हो उसे अधिकरण कारक कहते हैं। इस प्रकार विचारने से मालूम होता है, कि न तो प्रत्येक द्रव्य ही कारक है किन्तु ख़ास प्रकार की क्रिया अर्थात् कर्मवान् कर्म का कारण कारक है। इस तरह छः कारकों को समझ लेना चाहिये। (प्रश्न) छै कारक कौन से हैं? (उत्तर) १ कर्ता, २ कर्म, ३ करण, ४ सम्प्रदाय, अपादान, ६ अधिकरण। (प्रश्न) यह किस प्रकार मान लिया जावे, कि एक ही वस्तु प्रमाण भी हो जावे और प्रमेय भी हो सके। (उत्तर) यह तो प्रत्यक्ष ही है, कि एक ही मनुष्य अपने पिता के विचार से पुत्र और अपने पुत्रके विचार से पिता

कहा जाता है। इसी प्रकार प्रमाण और प्रमेय होते हैं। (प्रश्न) जिस समय प्रमाण की परीक्षा करते हैं वह उस समय प्रमेय हो जाता है, तो उस समय प्रमाण का धर्म उस में रहता है अथवा नहीं? यदि कहो कि रहता है, तो एक ही वस्तु में प्रमाण और प्रमेय का धर्म किस प्रकार रह सकता है, यदि कहो नहीं रहता तो वस्तु की सत्ता में उसका धर्म किस प्रकार नष्ट हो सकता है। (उत्तर) जिस प्रकार एक सेर बाट छटांक से बड़ा और पनसेरी से छोटा है। अवसर में छटांक से बड़ाई और पनसेरी से छोटाई स्थित है अथवा नहीं। यद्यपि बहुत कम जानने वाले मनुष्य कहने लगेंगे कि बड़ाई और छोटाई दो विरुद्ध धर्म एक में किस प्रकार रह सकते हैं, परन्तु यहां विरुद्ध नहीं, जो विरुद्ध होने के कारण असंभव हो जावें। यदि एक ही वस्तु से बड़ा छोटा कहा जावे तो विरोध हो जाता है परन्तु जहां किसी से छोटा किसी से बड़ा कहा जावे। वहां अपेक्षा होती है विरोध नहीं होता। जिस तरह छुटाई बड़ाई अपेक्षा से एक सेर में रह सकती है इसी तरह प्रमाण और प्रमेय का धर्म एक वस्तु में रह सकता है। क्योंकि जिस समय पर जिसके वास्ते वह प्रमाण है, उसके वास्ते प्रमेय उस समय पर नहीं है। (प्रश्न) प्रत्यक्षादि किस प्रकार जाने जाते हैं?

(उत्तर) प्रत्यक्षादि इस प्रकार मालूम होते हैं जैसे मैं प्रत्यक्ष से जानता हूं अर्थात् मैंने अपनी इन्द्रियों से मालूम किया है अथवा अनुमान से जानता हूं अथवा उपमान से जानता हूं। अथवा शास्त्र से मालूम करता है। मेरा ज्ञान प्रत्यक्ष से है, अनुभव से है अथवा उपमान से, वा शास्त्रों से उत्पन्न हुआ है। इस तरह पर ख़ास ज्ञान से उनके कारण का ज्ञान हो जाता है। जैसे जो ज्ञान इन्द्रियार्थ से उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं अब इस ज्ञानका कारण इन्द्रिय है इस तरह एक प्रमाणका परिमित होना सम्भवहै। (प्रश्न) यदि प्रमाण के लिये प्रमाण परिमित कियाजावे तो उसमें क्या हानि है?

उत्तर—प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तर सिद्धि प्रसङ्गः ॥ १७ ॥

अर्थ—यदि प्रमाण को प्रमाण से परिमित किया जावे, तो प्रत्येक प्रमाण को परिमित करने के लिये और प्रमाणों का प्रसंग

कभी खतम न होगा। उदाहरण यह है, कि जिस प्रमाण से तुम पहिले प्रमाण को परिमित करोगे उसके लिये तीसरे प्रमाण की आवश्यकता होगी, इसी तरह तीसरे के लिये चौथे की बात यह है, कि इसी तरह प्रमाणों के अनन्त होने से भी काम नहीं चलेगा अन्त में प्रमाण को विला प्रमाण ही सत्य मानना पड़ेगा। जब अन्त में नतीजा वही निकला तो परिश्रम करना वेफ़ायदा है। विपक्षी इस सिद्धान्त पर कि प्रमाण विना प्रमाण के परिमित हो जाता है। इस पक्ष को उठाता है।

पक्ष—तद्वि निवृते वी प्रमाणान्तर सिद्धिवत् प्रमेय-सिद्धिः ॥ १८ ॥

अर्थ—यदि प्रमाण को विला प्रमाण सत्य मानलोगे और उसकी सिद्धि को किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं मानोगे, तो तुम्हारे इस सिद्धान्त का खण्डन होजाने से, कि विला प्रमाण की कोई वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती प्रमेय का सिद्ध होना भी विला प्रमाण के ही मानना पड़ेगा और जब प्रमेय विला प्रमाण के सिद्ध होगया तो कुल प्रमाणों की सत्ता न रहने से उन का खण्डन हो जावेगा क्योंकि प्रमेय के सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यक सिद्धांत यह था, कि विला प्रमाण किसी का ज्ञान होना असम्भव है। जब यह सिद्धांत प्रमाण की सिद्धि, विला प्रमाण के होने से नष्ट होगया, तो कुल प्रमाणों का स्वमेव खण्डन हो गया। अब इसके खण्डन की कोई आवश्यकता न रहीं। अब इस पर महात्मा गौतमजी सिद्धांत सूत्र लिख कर इस को पूरा करते हैं।

सिद्धान्त—न प्रदीप प्रकाशवत् तत्सिद्धेः।

अर्थ—महात्मा गौतम जी इस सूत्र में दीपक को उदाहरण देकर इस बात का फैसला करते हैं, कि जिस तरह विना दीपक के चक्षु किसी वस्तु को देख नहीं सकती, परन्तु दीपक के देखने के वास्ते आंख को किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं और दीपक के न होने का ज्ञान प्रकाश के होने न होने से हो जाता है। जब दीपक उपस्थित होता तब आंख प्रत्येक वस्तु को देखती है। और जब नहीं होता नहीं देखती। इस तरह पर आंख के देखने से

दीपक के होने न होने का अनुमान होता है और प्राप्त उपदेश से भी पता लगता है। जहाँ अंधकार हो वहां दीपक जला कर वस्तुओं को मालूम करो। इस तरह प्रत्यक्षादि द्वारा जिन जिन चीजों का ज्ञान से प्रत्यक्ष होने का अनुभव किया जाता है और इन्द्रियार्थ निमित्त से जो सुख दुःख का प्रभाव मन के द्वारा आत्मा तक पहुंचता है उस से मालूम होसकता है जिस तरह प्रकाश दूसरी वस्तुओं के देखने का कारण सिद्ध होता है। इसी तरह प्रमेय रूप पदार्थ जानने का कारण होने की अवस्था मे प्रमाण और प्रमेय की ठीक व्यवस्था को प्राप्त करता है अर्थात् उस में दोनों गुण अपेक्षा से पाये जाते हैं। जिस के जानने का वह कारण है उसके वास्ते वह प्रमाण है। जो उसके जानने का कारण है उसके लिये वह प्रमेयहै। बस, यही प्रमाणादिके जाननेका उपाय है (प्रश्न) यदि प्रमाण से ही प्रमाण का ज्ञान होना मानोगे तो प्रमाता, प्रमाण, और प्रमेय का भेद नहीं रहेगा। (उत्तर) वस्तुओं की विरुद्धता से प्रत्यक्षादि को उनहीं प्रत्यक्षादि से प्राप्त होना नहीं कहा गया जब एक प्रत्यक्ष को मालूम करने वाला दूसरी प्रकार का प्रत्यक्ष है। तो पृथक्ता उपस्थित है। ऐसी अवस्था में भेद क्यों नहीं रहेगा। (प्रश्न) संसार में देखा जाता है, कि एक वस्तु से किसी दूसरी वस्तु को देखते हैं। और प्रत्यक्ष कोई दूसरी वस्तु नहीं जिससे प्रत्यक्ष को मालूम करसके। (उत्तर) वस्तुओं की पृथक्ता से उनके साधन भी पृथक् पृथक हैं। यथा रूप देखनेके वास्ते चक्षु प्रत्यक्ष प्रमाण है। और शब्द सुनने के लिए श्रोत्र, इसी तरह प्रत्यक्ष अनेक प्रकार का है। अतएव एक वस्तु से दूसरी के मालूम होने में कोई विरुद्धता नहीं हो सकती। यही अवस्था अनुमानादि प्रमाणों की है। यथा कुए में से निकले हुए जल को खारा या मीठा मालूम कर लेते हैं। इसी तरह जानने वाले आत्मा का भी अनुमान ही से ज्ञान होता है। जैसे यह विचार करके, कि मैं दुःखी हूं अथवा सुखीहूं। यहांपर जानने वालेही से जाननेवाले आत्माका ज्ञान होताहै। और एक ही समय में मन में दो प्रकार का ज्ञान न होनेसे मन का अनुमान होता है। क्योंकि एक काल में दो ज्ञान का न होना मन का लक्षण है। महात्मा गौतम जी प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा करके अब खास तौर पर पृथक २ प्रमाणों की परीक्षा करते है। क्योंकि प्रमाणों में लक्षण करते समय प्रथम प्रत्यक्षकाही लक्षण

कहा था अब परीक्षा भी प्रथम प्रत्यक्ष की ही करते हैं। यह पूर्व पक्ष का सूत्र है।

प्रत्यक्ष लक्षणानुपपत्तिर समग्र वचनात् ॥ २० ॥

अर्थ—क्योंकि प्रत्यक्ष के लक्षण में पूरे तौर पर बयान नहीं किया गया अतएव प्रत्यक्ष का जो लक्षण कहा है वह ठीक नहीं होसकता अब प्रश्न उत्पन्न होता है, कि प्रत्यक्ष के लक्षण में क्या हानि है। तो उत्तर प्राप्त हुआ, कि उसका पूरा कारण नहीं कथन किया गया क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण यह किया है, कि जब इन्द्रियार्थ से ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष कहलायेगा परन्तु केवल इन्द्रियार्थ के कारण से कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। किन्तु ज्ञान इस तरहपर उत्पन्न होता है, कि आत्माका सम्बन्ध मनसे होता है और मनका सम्बन्ध इन्द्रियों से और इन्द्रियों का सम्बन्ध वस्तुओं से होता है। जबकि ज्ञान के लिये आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थोंका सम्बन्ध बतलाना चाहिए था और बतलाया केवल इन्द्रिय अर्थ का सम्बन्ध और इस से कोई ज्ञान उत्पन्न होना सम्भव नहीं। अतएव यह लक्षण असम्पूर्ण है और जो लक्षण असम्पूर्ण हो वह लक्षण ठीक नहीं कहला सकता इस वास्ते प्रत्यक्ष का लक्षण बिलकुल ठीक नहीं है। (प्रश्न) क्या इन्द्रियार्थ से ज्ञान नहीं होसकता यदि मान लिया जावे तो क्या हानि होगी। (उत्तर) पहिले बतला दिया गया, कि प्रमाता अर्थात् जानने वाला, प्रमाण अर्थात् जानने का कारण प्रमेय अर्थात् जानने योग्य वस्तु से प्रमिति अर्थात् ठीक ज्ञान उत्पन्न होता है। जब तुम प्रमाता अर्थात् जानने को न मानकर केवल प्रमाण और प्रमेय से ज्ञानका उत्पन्न होना मानोगे, तो ठीक नहीं, क्योंकि जानने वाला ही नहीं। (प्रश्न) यदि हम आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानलें और मनको न मानें तो क्या हानि है? (उत्तर) उस अवस्था में एक ही समय में सब इन्द्रियों के अर्थ का ज्ञान होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता इस वास्ते मनका सम्बंध होना आवश्यक है। बस यह लक्षण प्रत्यक्ष का ठीक नहीं इस पर और हेतु देते हैं॥

नात्ममनसो स्सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥

अर्थ—आत्मा और मन के सम्बंध के विना प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पन्न होना असम्भव है। जैसे इंद्रिय और अर्थ के मध्य परदा

होने से उनका सम्बंध होने पर किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह आत्मा और मन का सम्बंध न होने पर भी ज्ञान नहीं होसकता। जैसा, कि प्रायः देखने में आता है, कि, मन के दूसरी ओर लगे होनेपर भी किसी आवाज़के सुनने पर भी उसका ठीक २ मतलव समझ में नहीं आता, और प्रायः वहुत सी वस्तु सामने से निकल जाती हैं और उनका ज्ञान नहीं होता। इसलिए साफ तौर पर पता लगता है, कि विना आत्मा और मनके सम्बन्ध के ज्ञान का उत्पन्न होना असम्भव है। और असम्भव का उपदेश ठीक नहीं होता इस वास्ते प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक नहीं। इस के सिवाय लक्षण में और कमी वतलाते हैं।

दिग्देश कालाकाशेष्वप्येवं प्रसंगः ॥ २२ ॥

अर्थ-दिशा, देश, काल और आकाश के विना भी प्रत्यक्ष नहीं होसकता। इस वास्ते प्रत्यक्ष के लक्षण में इनके कथन की भी आवश्यकता थी क्योंकि वे वस्तु प्रत्येक स्थान और प्रत्येक समय में मन से सम्बंध रखने वाली हैं इनका सम्बंध किसी वस्तु से टूट ही नहीं सकता इस वास्ते जिस प्रकार आत्मा का मनसे और मन का इन्द्रियों से और इंद्रियों का विषयों से संवध को ज्ञान का कारण माना है। इसी तरह पर दिशा कालादिको भी ज्ञान का कारण मानना चाहिये। क्योंकि जिसके विना जो चीज़ उत्पन्न नहीं होसके "वह उसका कारण कहलाता है। जब कि दिशा कालादि के संयोग के बिना कोई ज्ञान उत्पन्नहो नहीं सकता तो साफ तौर पर यह ज्ञान का कारण है किसी वस्तु की उत्पत्तिके सव कारण वयान न करना ठीक नहीं अत एव प्रत्यक्ष का लक्षण असम्पूर्ण है। अब इसका उत्तर महात्मा गौतम जी देते हैं।

ज्ञान लिङ्ग त्वादात्म नो नानविरोधः ॥ २३ ॥

अर्थ-क्योंकि आत्मा का लिंग ज्ञान है इस वास्ते प्रत्येक ज्ञान के प्राप्त करने में दिशा आदि अज्ञानवान् वस्तुओं को कारण मानना आवश्यक नहीं और उनके न कहने से कोई हानि नहीं है। इस लिये दिशा काल के साथ आत्मा का संयोग ज्ञान के कार्य्यों में ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा ज्ञान के साथ नित्य सम्बंध रखता है। और ज्ञान क्योंकि आत्मा ही को होता है इस वास्ते उसके न वयान करने में कोई हानी नहीं क्योंकि ऐसे कारण जिनका सम्बन्ध

कभी हो कभी न हो वतलाने आवश्यक हैं, क्योंकि उनके होने से काम का होना और न होने से न होना सम्भव है। और जिस के साथ नित्य सम्बन्ध हो उस के न वयान करने से कोई हानि नहीं प्रतीत होती है क्योंकि उस का ज्ञान स्वमेव सम्बंध होजाता है। और उपदेश केवल ज्ञान के लिये किया जाता है। जहां विना उपदेश के ज्ञान होजावे वहां उपदेश की क्या आवश्यकता है। इस लिये प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्मा के न ग्रहण करने से कोई हानि नहीं। (प्रश्न) आत्मा के न वयान करने का पक्ष तो आपने आत्मा का लिङ्ग ही ज्ञान होने से दूर कर दिया मन के न वयान करने का दोष तो शेष है।

तद्यौगपद्य लिंगत्वाच्च न मनसः ॥ २४ ॥

अर्थ–जिस प्रकार ज्ञान का आत्मा के लिङ्ग होने से आत्मा के कथन करने की आवश्यकता नहीं इसी तरह पर मन के विना भी वहुत से ज्ञानों का एक साथ होना आवश्यक था। किन्तु यह दृष्टि में नहीं आता, कि एक साथ वहुत सी वस्तुओं का ज्ञान होजावे इस वास्ते प्रत्येक ज्ञान के साथ जो क्रम से प्रतीत होता है। मनका सम्बंध आवश्यक प्रतीत होता है। और जिसका संयोग आवश्यक हो उसके कथन करने की कोई आवश्यकता नहीं। (प्रश्न) मनका सम्बंध ज्ञान के साथ आवश्यक मानने में क्या प्रमाण है। (उत्तर) क्योंकि पांचों ज्ञान इंद्रियां प्रत्येक समयपर एक साथ काम करती हैं किन्तु ज्ञान एक साथ नहीं होता, यदि इन्द्रिय और अर्थों के सम्बंध से ही ज्ञान होता तो सब विषयों का एक साथ ही ज्ञानहोता जिस का न होना वतला रहा है। कि जिस इंद्रिय के साथ मनका सम्बंध होता है उस को उसका ज्ञान होता है। जिसके साथ मनका सम्बंध नहीं होता उसके अर्थ का ज्ञान भी नहीं होता अर्थात् अर्थ का ज्ञान होना मन और इंद्रिय के सम्बंध पर ही है। जव कि मन के विना इंद्रिय अर्थ का ज्ञानकर ही नहीं सकती तो मन ज्ञान का कारण आवश्यक हुआ। (प्रश्न) क्या केवल आवश्यक होने के कारण ही आत्मा और मन का कथन पत्यक्ष के लक्षणों में नहींहै। (उत्तर) यही कारण नहीं, किन्तु लक्षण उस को कहते हैं जो विना उस के दूसरे में नहीं घट सके आत्मा और मन प्रत्येक ज्ञान के कारण हैं। अथवा वह प्रत्यक्ष से हो अनुमान वाउपमान से अथवा शब्द से तात्पर्य यह

है कि हरेक प्रमाण से होने वाले ज्ञान से आत्मा और मन का सम्बंध है और इंद्रियों का केवल प्रत्यक्ष ज्ञान से इस लिये प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होना ठीक था। क्यों कि प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इन्द्रिय और अर्थों का सम्बंध विशेषतया है। विशेषता यह है, कि मन अपने विचार में मगन होता है, कि यकायक विद्युत की कड़कड़ाहट श्रोत्र द्वारा मनको चौंका देती है। ऐसी अवस्था में आत्मा जानने की इच्छा से मनको नहीं लगाता किन्तु इन्द्रियों के सम्बंध से मन और आत्मा को ज्ञान होता है। इस कारण से प्रत्यक्ष में आत्मा और; मन बड़ा भाग नहीं, किन्तु इन्द्रिय ही समझनी चाहिये। (प्रश्न) इन्द्रिय और अर्थ के सम्बंध के प्रधान होने में क्या प्रमाण है।

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ २५ ॥

अर्थ-प्रत्यक्ष ज्ञान के इन्द्रियों के कारण से उत्पन्न होने का प्रमाण यह विशेषता भी है। कि जो भिन्न २ इंद्रियों के कारण से होती है। यथा किसी वस्तु के सुगंधित और दुर्गंधित होने का ज्ञान नासिका से सूंघने पर प्राप्त होता है। और रूप के अच्छे बुरे का ज्ञान चक्षु द्वारा होता है। आवाज़ के कड़ी और नरम होने का ज्ञान श्रोत्र के द्वारा होता है। और स्वाद का ज्ञान जिव्हा द्वारा होता है। इस प्रकार रूप रस, आवाज़, गन्ध; गरमसरद इन सब का ज्ञान कई प्रकार के प्रत्यक्ष इंद्रियों के कारण से होता है। इस वास्ते प्रत्यक्ष ज्ञान में इंद्रिय और अर्थों का सम्बध ही प्रधान का कारण है। और जैसे ऊपर कथन किया गया है, कि प्रायः इंद्रिय और अर्थ का सम्बन्ध ही ज्ञान का कारण होता है आत्मा और मन का सम्बन्ध ज्ञानका कारण नहीं होता। इसवास्ते प्रधान समझकर इंद्रिय और अर्थ का सम्बन्ध ही लक्षण में कथन कियागया। इसपर विपक्षि और हेतु देता है।

व्याहतत्व दहेतुः ॥ २६ ॥

अर्थ-यह कहना ठीक नहीं, कि प्रत्यक्ष में इंद्रियां प्रधान हैं। क्योंकि यदि आत्मा और मनका सम्बन्ध ज्ञान का कारण न माना जावे, केवल इंद्रिय और अर्थ के सम्बन्धसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जावे, तो एक कालं में दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न न होना. जो मन का लक्षण कहाहै नष्टहो जायगा क्योंकि मनके लक्षणनुसार इंद्रिया-

र्थ के संबंध को मनके संबंध की आवश्यकता है। वरन् एक काल में सब इन्द्रियों के अर्थों का ज्ञान होना सम्भव है इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान में भी मन और आत्माके सम्बन्ध को शामिल करना चाहिये। अथवा इस सूत्र का यह मतलब लेना चाहिये कि जब किसी एक कार्य्य में मन एकाग्र होता है। यथा किसी अच्छे गान के सुनने में, या और किसी प्रकार में, तो शेषइन्द्रियां उस समय भी विषयों से सम्बन्ध रखती हैं। यदि इन्द्रियों के कारण ज्ञान होता तो उस अवस्था में भी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है अतएव यह सिद्धान्त, कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियां प्रधान हैं खण्डन होजाता है और यह लक्षण भी नष्ट होजाता है, कि इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसका उत्तर महात्मा गौतम जी देते हैं।

नार्थ विशेष प्राबल्यात् ॥ २७ ॥

अर्थ—उपरोक्त हेतु का उत्तर यह है, कि इसमें व्याघात नहीं है। आत्मा और मन का संयोग ज्ञान का कारण है, इस में व्यभिचार नहीं होते। न होने का कारण क्या है? खास विषयों की विशेषता से तात्पर्य्य यह है, कि ऊँची आवाज़ के सुनने से सोया हुआ या किसी काम में फँसा हुआ मन फौरन् जाग उठताहै, इससे इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध को प्रधान कहा जाता है। ज्ञान बिना मनके नहीं हुआ, किन्तु इन्द्रिय और अर्थके संयोगसे, इसके स्थानमें कि मन इन्द्रियको जाननेकी ताकतदे,इन्द्रियने मनको जगाकर जानने की ताकत दी। इसलिये इन्द्रिय और अर्थ के संबन्ध को प्रधान कथन करने से आत्मा और मनके सम्बन्ध का खण्डन नहीं हुआ। अर्थका बल वाला होना इन्द्रिय को प्रधान बनादेता है। और निर्बल होने में मन प्रधान होता है। दोनों के पृथक् कारण से उत्पत्ति के कारण व्याघात नहीं है। और विशेषार्थ का बलवान् होना इंद्रियों का विषय है मन और आत्मा का विषय नहीं इस वास्ते इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही प्रधान कारण है, क्योंकि संकल्प न होने पर भी सोएहुए अथवा किसी विषय में फ़से हुऐ मनको इन्द्रिय और अर्थ के संयोग के कारण ज्ञान होजाता है। यद्यपि उस में मन का साथ मिलना भी एक कारण है, किन्तु इन्द्रिय और अर्थ के संयोग होते ही मन और आत्मा में क्रिया होने लगती है। इस वास्ते

आत्मा इंद्रिय और अर्थ का संयोग उस क्रिया का कारण होता है यद्यपि विना आत्मा और मन के संयोग के ज्ञान का उत्पन्न होना असम्भव है। तौ भी विशेष अर्थ होने से, इसके स्थान में, कि मन इन्द्रियों को काम में लगाता, इन्द्रियोंने मनको काम में लगाया इस लिये इन्द्रियों को प्रधान मानकर प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से भी कथन कियागया। अब इसपर विपक्षी दूसरे प्रकार के हेतु देने प्रारम्भ करते हैं।

प्रत्यक्ष मनुमान मेकदेश ग्रहणादुपलब्धेः ॥ २८ ॥

अर्थ–अब प्रत्यक्ष की परीक्षा में यह पक्ष उठाते हैं, कि प्रत्यक्ष का मानना बे दलील है क्योंकि प्रत्यक्ष में जो लक्षण कहा है, कि इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है तो जब वृक्षादि के एक भाग को देखकर शेष सारे वृक्षका ज्ञानहो जाता है। तो यह ज्ञान प्रत्यक्ष के लक्षण में तो आ नहीं सकता, क्योंकि कुल अर्थ के साथ इन्द्रिय का संयोग नहीं हुआ और ज्ञान पूरे वृक्ष का हुआ है। इसलिये इसको अनुमान ही समझना चाहिये, क्योंकि वृक्षका एक भाग वृक्ष नहींहै, किन्तु जिसतरह धूएंको देखकर अग्नि का अनुमान होता है। इसी तरह वृक्ष के एक भाग को देखकर वृक्ष का अनुमान होता है। इस के उत्तर में विपक्षी से यह कहना चाहिये, कि क्या उस भागसे, जिससे इन्द्रियों ने जाना है शेष वृक्षको दूसरी वस्तु मानकर उसका अनुमान के योग्य होना मानते हो, यदि कथन करो ऐसा ही मानते हैं, तो जिस देश के भागों को इन्द्रिय के संयोग से जाना है उसको छोड़कर शेष भाग अनुमेय रहेंगे न कि वृक्ष का अनुमान होगा, क्योंकि जिस भाग को जानलिया है उस के जानने के वास्ते दूसरे प्रमाण की आवश्यक्ता नहीं और एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े के अनुमान में कोई युक्ति नहीं, क्योंकि इससे कोई व्याप्ति नहीं, और एक भाग के अनुमान को सब का अनुमान कहना मिथ्या ज्ञान है। (प्रश्न) एक भाग के प्रत्यक्ष से दूसरे भागका अनुमान करने में क्या दोष होगा? (उत्तर) प्रथम तो इस में यह हानि है, कि किसी प्रकार भी पूरे वृक्ष का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि एक भाग प्रत्यक्ष है और दूसरा अनुमेय है और प्रत्यक्ष और अनुमेय तो कई प्रकार की वस्तु हैं और एक अवयवी कई विशेषणों वाले हो नहीं सकते। (प्रश्न) यदि हम ऐसा मानें, कि एक देश के प्रत्यक्ष से दूसरे का अनुमान होना सम्भव

है, तो उसमें क्या हानि होगी ? इसका उत्तर महात्मा गौतम जी देते हैं:—

न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ २९ ॥

अर्थ-जितने भाग का प्रत्यक्ष से ज्ञान होगा उतने ज्ञान से ही प्रत्यक्ष की सिद्धि होजावेगी, क्योंकि विपक्षी तो प्रत्यक्ष को नितान्त परिमित कर रहा है, जब उसने एक देशका प्रत्यक्ष होना मानलिया तो उसके पक्षका खण्डन होगया । दूसरे यह है, कि प्रत्यक्ष के न मानने पर तो अनुमान् किसी तरह हो ही नहीं सकता, क्योंकि अनुमानका लक्षण यह किया है कि जब प्रत्यक्ष प्रमाण से दो वस्तुओंकी व्याप्ति का ज्ञान होजावे तो उनमें से एक को देखकर दूसरे का अनुमान कियाजाता है। यदि प्रत्यक्ष की सत्ता नितान्त नष्ट कर दी जावे तो अनुमान की सत्ता उससे प्रथम ही नष्ट हो जायगी, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान का कारण है। जब अनुमान के कारण व्याप्ति का ज्ञान ही न होगा, तो उस के कार्य अनुमान की उत्पत्ति किस प्रकार होगी और व्याप्ति का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष के द्वारा होता है जब प्रत्यक्ष ही परिमिती न होगा तो अनुमान भी न होगा । विपक्षी जिस अनुमान के भरोसे पर प्रत्यक्ष के खण्डनपर तय्यार हुआ था, वह अनुमान गुम होगया (प्रश्न) जब एक वस्तु के एक अवयव का प्रत्यक्ष होता है और बाकी अवयव प्रत्यक्ष नहीं होते और उससे वस्तु के होने का ज्ञानहोजाता है तो इस ज्ञान को प्रत्यक्ष मानें वा अनुमान कहें, इसका उत्तर गौतम जी अगले सूत्र में देते हैं:—

सू० न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥ ३० ॥

अर्थ-एक अवयव का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से प्रत्यक्ष को सिद्धकरके इस सूत्र में दूसरे अवयव का प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं—भाव यह है कि एक अवयव के प्रत्यक्ष होने से केवल उस अवयव का ही ज्ञान नहीं होता किन्तु अवयवी के 'सत्' होने से एक अवयव के ज्ञान होते ही उसके साथी दूसरे अवयवों के समूहभूत अवयवी का भी ज्ञान हो जाता है। अवयवी के दो प्रकार के अवयव हैं-एक प्रत्यक्ष से गम्य, दूसरे अगम्य, परन्तु एकावयवज्ञान से समूहभूत अवयवी का ज्ञान होना असम्भव नहीं, किन्तु कारण के साथ ही कार्य का ज्ञान लोक में देखा गया है। (प्रश्न) जब एक भाग से

दूसरा भाग पृथक है, तो एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? (उत्तर) यह प्रश्न ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने में तो एक भाग भी प्रत्यक्ष नहीं माना जावेगा, क्योंकि एक भाग को दूसरे भाग की इन्द्रियों से सम्बन्ध होने में रुकावट होगी। इस प्रकार किसी पूरी वस्तु को मालूम नहीं कर सकेंगे। क्योंकि न तो सम्पूर्ण वस्तुओं का इन्द्रियों से सम्बन्ध हो सकता है, और न सम्पूर्ण का और न ही उस भाग का जिस का ज्ञान हुआ है ? ज्ञान समाप्त होता है यह एक भाग से दूसरे के न मालूम होने का खण्डन है क्योंकि जब कुछ शेष न रहे तो सम्पूर्ण का ज्ञान होता है। यदि कुछ भाग शेष रह जावे तो सम्पूर्ण नहीं कहला सकता। एक वस्तु में दूसरी के मिले होने से इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध में विषयों से रुकावट होती है। इस प्रकार रुकावट होने से ज्ञान न होना चाहिये, किन्तु, जब सम्पूर्ण का ज्ञान होना न मानोगे तो सम्पूर्ण कोई वस्तु ही न होगी और जब सम्पूर्ण कोई वस्तु न मानी जावे तो प्रत्यक्ष के विपक्षी से पूंछना, कि फिर किस के एक भाग का प्रत्यक्ष मानोगे क्योंकि सम्पूर्ण के न होने से भाग कहला सकता है और सम्पूर्ण होना उस के ज्ञान होने से मालूम हो सकता है। (प्रश्न) क्या जिस वस्तुका ज्ञान न हो उसको शून्य मानना चाहिये ? (उत्तर) हां जिस वस्तु का किसी प्रमाण से भी ज्ञान न हो सके उस की सत्ता किसी प्रकार हो नहीं सकती। जितनी चीजें, हैं सब के जानने के वास्ते कोई न कोई प्रमाण है, यदि कोई यह माने कि बहुत सी ऐसी वस्तुएं हैं जो प्रमाणों से नहीं जानी जातीं, जैसे 'ईश्वर तो' उसका कहना बिलकुल ठीक नहीं क्योंकि वस्तुओं की सत्ता प्रमाण ही से प्रतीत होती है। (प्रश्न) ईश्वर की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु ईश्वर की सत्ता को लोग मानते हैं। (उत्तर) प्रथम तो ईश्वर की सत्ता में शब्द प्रमाण है जिस के सम्बन्ध से बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं। दूसरे सृष्टि की रचना से उस का अनुमान हो सकता है। इस वास्ते यह कहना, कि ईश्वर की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, ठीक नहीं। तात्पर्य्य इस सूत्र का यह है, कि जिस प्रकार जिन वस्तुओं को हम देखेंगे तो उस के ऊपर के भाग का प्रत्यक्ष होगा अन्दर के भागों का नहीं होगा। उदाहरण यह है कि हम एक आदमी को देखते हैं तो उस की त्वचा का प्रत्यक्ष होता है अन्दर के भागों का नहीं।

अब त्वचा का नाम तो आदमी नहीं। आदमी तो कुल शरीर का नाम है। लेकिन कहा यह जाता है, कि हम मनुष्य को प्रत्यक्ष देखते हैं। यह नहीं कहते, कि हम त्वचा को देखते हैं। इस वास्ते एक देश के प्रत्यक्ष होने से सम्पूर्ण का ज्ञान हो जाता है और वह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। (प्रश्न) यदि इस प्रकार त्वचा को देख-कर शरीर के प्रत्यक्ष का पक्ष किया जावे तो उस अवस्था में ठीक हो सकता है, कि जिस अवस्था में सम्पूर्ण शरीर को ठीक मान लिया जावे, जब सम्पूर्ण न माना जावे तो वस्तु को देखनेसे सम्पूर्ण का ज्ञान किस प्रकार हो सकताहै ? (उत्तर) जब तुम वृक्ष के एक भाग को देख कर सम्पूर्ण वृक्ष का अनुमान करना मंजूर करते हो तो सम्पूर्ण के होने में किस प्रकार संशय करते हो। जब सम्पूर्ण की सत्ता का इकरार कर लिया तो एक भाग देखने से सम्पूर्ण का ज्ञान होना ठीक है, इस पर विपक्षी प्रश्न करता है :—

सूत्र--साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३१ ॥

अर्थ-तुम जो अवयवी होना मानते हो यह ठीक नहीं क्योंकि इसमें साध्य होना अर्थात् प्रमाण का मौहताज होना पाया जाता है। जब तक प्रमाण से अवयवी का होना परिमित न होजावे तब तक मानना ठीक नहीं। प्रमाण से परिमित होने पर मानना चाहिये और अवयवी के न होने का कारण यह है, कि एक ही वृक्ष में एक भाग तो हिलता है दूसरा बिल्कुल नहीं हिलता, एक भाग का कुछ रंग होना दूसरे भाग में दूसरा रंग होना। इस प्रकार कई प्रकार के विशेषणों के देखने से अवयवी की सत्ता प्रमाण की मौहताज है, क्योंकिएक वस्तु में एक ही समय में दो विरुद्ध विशेषणों का होना सम्भव नहीं इस वास्ते अवयवी के होने में संशय है, उसका होना किसी प्रमाण से परिमित नहीं होता। इस का उत्तर महात्मा गौतमजी देते हैं :—

सूत्र--सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—उक्त सूत्र में जो आक्षेप किया है, उस का उत्तर यह है कि यदि अवयवी को न माना जावे तो सब स्वरूप के न होने से द्रव्य गुण सामान्य आदि की सिद्धि न होगी और इनके सिद्ध न होने से किसी वस्तु का भी प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकेगा। ऐसी दशा में सब वस्तुएं परमाणु रूप ही माननी पड़ेंगी,

और परमाणु इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होसक्ते। (प्रश्न) अवयवी के न मानने से द्रव्यकि सिद्धि क्योंकर न होगी? उत्तर) जिन द्रव्यों को इन्द्रियों से ज्ञात करते हैं, उन्हीं का होना स्वीकार किया जाता है और जो किसी प्रमाण से ज्ञात न हो उस के अस्तित्व को ठीक तौर पर स्वीकारनहीं किया जासक्ता। इन्द्रियोंसे अवयवी का ही ज्ञान होता है, केवल अवयव का नहीं। यदि कोई अवयवी न हो, तो उस का ज्ञान कैसे होसक्ता है? और यदि द्रव्य का ज्ञान न हो तो उस में रहने वाले गुणादिकों का कैसे ज्ञान होसक्ता है? (प्रश्न) जब कि द्रव्य कारण, और कार्य्य दो प्रकार के मानें जाते हैं, तो अवयवी के न होने से कार्य्य द्रव्यों का ज्ञान न होगा, कारण का तो ज़रूर ही होगा। इस तरह पर अवयवी के न मानने पर भी यह आक्षेप दूर हो जावेगा? (उत्तर) क्योंकि जीवात्मा विना साधन अर्थात् मन इन्द्रिय आदि के विना किसी वस्तु का ज्ञान नहीं कर सक्ता। जितनी इन्द्रियां हैं वे सब कार्य्यद्रव्य को ज्ञात करके ही कारण का अनुभव किया करती हैं। कार्य्य के न मालूम होने पर कार्य्य कारण दोनों का ही ज्ञान न होगा, इस वास्ते अवयवी का मानना आवश्यक है। (प्रश्न) क्या अणुपरिमाण वाले का ज्ञान नहीं हो सक्ता? केवल महापरिमाण का ही प्रत्यक्ष होता है? (उत्तर) न तो अणुपरिणाम अर्थात् सब से छोटी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, और न महापरिमाण अर्थात् सब से बड़ी वस्तु का किन्तु मध्य परिमाण अर्थात् विचले दर्जे की वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। अब अवयवी के होने में और युक्ति देते हैं:—

सू० धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३३ ॥

अर्थ-बहुतसी वस्तुओं के धारण करने और खेंचने से भी अवयवी का होना सिद्ध होताहै, क्योंकि यदि सब परमाणु ही हों, और उनकी तरकीबसे बनीहुई कोई वस्तु न हो तो खेंचने से एक ही परमाणु आना चाहिये, शेष परमाणु नहीं आने चाहियें क्योंकि समस्त वस्तु को जहां स्थित करते हैं वह वहां ही स्थित रहती है, इस वास्ते धारण और आकर्षण से अवयवी का होना सिद्ध होता है। यदि अवयवी अवयवों से पृथक न माना जाय तो धारण और आकर्षण हो ही नहीं सक्ते।

(प्रश्न) क्या अवयवों (टुकड़ों) का धारण और आकर्षण नहीं

हो सकता ? जिस तरह हम एक साथ चुनी हुई ईंटों को किसी चौकी पर धारण किया हुआ देखते हैं, वे ईंटें सब अलग २ हैं। (उत्तर) जिस समय उस चौकी को खेंचांगे तो वह शीघ्र ही गिरने लगेगी, इस वास्ते धारण करने से भी आकर्षण के होते ही गिरने लगेंगीं, पर जिस समय किसी टुकड़े को खेंचते हैं तो इस तरह अलग २ टुकड़े नहीं हो जाते, किन्तु समस्त लकड़ी खिंच आती है, इसलिये किसी बनी हुई वस्तु को केवल परमाणुओं का समूह नहीं कह सकते, किन्तु उनमें सिवाय परमाणुओं के एक संयोग शक्ति है जिसने उन परमाणुओंको मिलाकर एक करदियाहै। (प्रश्न) सिवाय परमाणुओं के संयोगशक्ति किस में रहती है? यदि कहो परमाणुओं में, तो वह उनका स्वाभाविक गुण है या नैमित्तिक ? (उत्तर) पृथ्वी के परमाणुओं में संयोगशक्ति, जल और अग्नि के कारण उत्पन्न होती है। कच्ची ईंटों में जलके कारण और पक्की ईंटों में अग्नि के कारण। जल के परमाणुओं में अग्नि के कारण और अग्नि के परमाणुओं में वायु के कारण और वायु में चेतन की क्रिया से संयोग शक्ति पैदा होती है। (प्रश्न) यदि ईंट में संयोग शक्ति न मानी जावे, ईंट को केवल परमाणुओं का समूह ही माना जावे तो क्या हरज होगा ? (उत्तर) यदि ऐसा मानें तो धूल में और ईंट में क्या भेद होगा ? क्योंकि पार्थिव परमाणु समूह दोनों जगह समान हैं, केवल संयोग शक्ति ही से धूल और ईंट का भेद मालूम होता है, और ईंट को एक कह सकते हैं धूलको एक नहीं कहसकते इसलिये अवयवी पृथक् और परमाणु पृथक् हैं। (प्रश्न) जैसे असंख्य पुरुषों वाली सेनाको एक अवयवी न होने पर भी दूर से एक मालूम करते हैं या जैसे दूरसे वन बुद्धि से वृक्षों को 'एक' मालूम करते हैं वैसे ही सब जगह संयोग शक्ति के न रहते हुए भी 'एक' ज्ञान हो सकता है।

उ०सेनावनवद्ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ३४

अर्थ–सेना और वृक्षों की तरह मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि सेना और वनके वृक्षों का पृथक् २ होने का ज्ञान केवल दूरसे देखने के कारण से नहीं होता, वस्तुतः उनमें पृथक्ता होती ही है। दूरता दोष से उन वृक्षों के भेद शीशम, आदिका भी ज्ञान नहीं होता। परन्तु यह दृष्टान्त, परमाणु समूह को एक सिद्ध करने के लिये ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणु किसी इन्द्रिय का विषय नहीं, और सेना

तथा वन के वृक्षों के देखने से उनके होने मात्र का ज्ञान नहीं होता, किन्तु मनुष्यजाति तथा वृक्षजाति का ज्ञान होता है। और वस्तु की जाति का ज्ञान होने से और वस्तुओं की पृथकता का ज्ञान न होने से 'एक' है ऐसा जो ज्ञान पैदा होता है और परमाणुओं में एक होने का ज्ञान होने और किसी कारण से पृथक् होनेका ज्ञान न होने से जो 'एक' होने का ज्ञान होता है वह परीक्षणीय है कि क्या परमाणुओं का समूह ही एकत्व ज्ञानका कारण है या नहीं, इसकी परीक्षा करनी चाहिये। (प्रश्न) क्या सेना और वनके वृक्ष, अणु-समूह की तरह अलग २ होने पर एक नहीं मालूम होते? (उत्तर) जबतक अवयवों से अवयवी न बनजावे अर्थात् महापरिमाण वाला न होजावे तबतक वह इन्द्रिय से नहीं जाना जासकता और जो वस्तु इन्द्रियों से ज्ञात न होसके वह दृष्टान्त में नहीं आ सकती क्योंकि वह स्वयं प्रमाणापेक्षी है। (प्रश्न) सेना और वनके वृक्ष भी परमाणुओं के समूह ही हैं, जैसे उनका प्रत्यक्ष होता है वैसी ही परमाणुओं के समूह के प्रत्यक्ष होने से अवयवी कोई वस्तु नहीं। (उत्तर) यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि परीक्षा इस बात की होरही है कि अवयवी, केवल परमाणुओं का समूह मात्र है वा परमाणुओं में संयोग शक्ति के कारण एक अवयवी पृथक् बनगया है, जबतक यह सिद्ध न होजाय कि अवयवी कोई वस्तु नहीं, सिवाय परमाणु समूह के, तबतक यह दृष्टान्त ठीक नहीं हो सकता। (प्रश्न) यद्यपि वे सेनाके मनुष्य और वनके वृक्ष पृथक् २ हैं, परन्तु उनकी पृथकता प्रसिद्ध नहीं होती, यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिये यह ठीक है कि अवयवी कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं किन्तु परमाणु समूह मात्र है और जो वस्तु प्रत्यक्ष हो उसका खण्डन हो नहीं सकता। (उत्तर) यद्यपि वनके वृक्षों और सेना के मनुष्यों की पृथक्ता का ज्ञान न होना ठीक है और प्रत्यक्ष होने से परीक्षणीय नहीं परन्तु व्यभिचारी होने से प्रत्यक्ष लक्षण के अन्तर्भूत नहीं हो सकता, क्योंकि उस के समीप जानेपर सेना का प्रत्येक पुरुष और जङ्गलका प्रत्येक वृक्ष, पृथक् २ मालूम होते हैं इसलिये यह दृष्टान्त ठीक नहीं। (प्रश्न) इस दृष्टान्त के कहदेने से अवयवों की सिद्धि नहीं होसकती क्योंकि दृष्टान्त एक अंश में हुआ करता है यदि सर्वांसमें दृष्टान्त हो तो दृष्टान्त ही क्यों कहा जाय? किन्तु दृष्टान्त (जिसके लिये दृष्टान्त दियाजाता है वह) ही होजाय। (उत्तर) उद्यपि यह ठीक

है कि दृष्टान्त केवल एक अङ्ग के प्रसिद्ध करने के लिये होता है, पर दृष्टान्त के ठीक न होने से सिद्धान्त ठीक नहीं रहता। अर्थात् जीवात्मा की सिद्धि में दृष्टान्त दिया जावे, यदि दृष्टान्त से वह बात सिद्ध न हो तो वह सिद्धान्त खण्डित होजाता है। इसलिये तुम्हारा यह सिद्धान्त कि समष्टि कोई वस्तु नहीं, केवल परमाणुओं का संघात है, सर्वथा खण्डित होगया, अब इस से आगे अनुमान प्रमाण की परीक्षा होगी। वादी प्रत्यक्ष प्रमाण के खण्डन में बहुत से हेतु देने पर भी जब उसका खण्डन न करसका तो अब अनुमान प्रमाण का खण्डन करने के लिये निम्न लिखित सूत्रसे आक्षेप करता है अर्थात् इस सूत्र से अनुमान की परीक्षा आरम्भ होती है। अनुमान के लक्षणमें यह बतलाया गया था कि अनुमान तीन प्रकार का होता है। (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतो दृष्ट। इन तीनों प्रकार के अनुमान के लिये जो दृष्टान्त दिये गये हैं, उनमें व्यभिचार दोष दिखलाकर उसका खण्डन करता है।

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम्।३५

(पूर्वपक्ष)

अर्थ—अनुमान के लक्षण में जो दृष्टान्त दिये गये हैं, वे सब व्यभिचार दोष से युक्त हैं। प्रथम यह कहा गया है कि नदी में बाढ आने से यह अनुमान किया जाता है कि ऊपर पहाड़ में वर्षा हुई होगी, किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऊपर के भाग में किसी पहाड़ के गिर जाने से या बन्द लगाकर पानी रोकदिया जावे तो जिस समय वह पहाड़ का टुकड़ा अलग होगा बन्द खोला जायगा, तब एक साथ नदी में बाढ़ आ जावेगी। जिससे वर्षा के होने का अनुमान सर्वथा मिथ्या सिद्ध होगा। यदि नदी की बाढ़ का कारण केवल पहाड़ में वृष्टि का होना ही होता, तब तो अनुमान ठीक था, परन्तु उसका कारण पानी का रुकजाना भी है, इस लिये व्यभिचार दोष होने से अनुमान ठीक नहीं। दूसरे यह भी कहा गया था कि चींटियों के अण्डों के निकलने और मोरका शब्द सुनने से यह अनुमान होता है कि अब वर्षा होगी, इससें भी व्यभिचार दोष आता है। क्योंकि अतिवेग से किसी वस्तु के गिरने से भी चींटियों को अण्डों के नाश होने का भय होता है, तभी वे अण्डों को लेकर भागने लगती हैं, यदि उन का घर टूट जावे तो वे अवश्य दौड़ने लगेंगी। मोर के शब्द से जो मेह के होने का अ-

नुमान किया जाता है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्य भी मोर का शब्द कर सकता है, इसलिये मोर के शब्दमात्र से जो अनुमान किया जायगा, वह अन्यथा हो सकता है। प्रमाण वह हो सकता है, जिस में सन्देह न हो और जो आप सन्दिग्ध है, वह प्रमाणकोटि में कैसे आरूढ़ हो सकता है ? इसलिये तीनों प्रकार के अनुमान ठीक नहीं। (प्रश्न) अनुमान किस प्रकार किया जाता है ? (उत्तर) व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध के ज्ञान से। (प्रश्न) जहां सम्बन्ध के ज्ञान में विकल्प होगा, वहां कारण के ठीक न होने से अनुमान ठीक न होगा, इस वास्ते मिथ्या अनुमान के खण्ड से अनुमान मात्र का खण्डन नहीं होसकता। (उत्तर) हो सकता है, क्योंकि सब अनुमानों में विकल्प की सम्भावना है, क्योंकि उनकी सिद्धि में जो हेतु और उदाहरण दिये हैं, वे सब व्याप्ति दोष से दुष्ट और वैकल्पिक है। इसका उत्तर स्वयं सूत्रकार अक्षपाद देते हैं:-

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात्॥३६॥ (उत्तरपक्ष)

अर्थ-अनुमान के खण्डन में जो हेतु दिये गये हैं, वे ठीक नहीं और उस में व्यभिचार सिद्ध करने के लिये जो दृष्टान्त दिये गये हैं, वे भी निर्बल हैं। क्योंकि पहला दृष्टान्त तो एक देश का है, सदा सर्वत्र नदी में बाढ़ इस रीति से नहीं आती और चींटियों का घर टूटने से अण्डे लेकर भागना भी भय के कारण से है, वह भी स्वाभाविक नहीं। और दूसरे कारण के होने से यह घटनायें पहिली घटनाओं से बिलकुल भिन्न हैं। इसलिये अन्य वस्तु के होनेसे हेतु में व्यभिचार दोष नहीं रहा। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं कि ये जो कारण हैं, सब कृत्रिमहैं और अनुमान के कारण वास्तविक हैं, इसलिये वास्तविक हेतुओं के सामने कृत्रिम हेतुओं के प्रस्तुत करने से अनुमान का खण्डन नहीं हो सकता। क्योंकि अनुमान का हेतु कृत्रिम हेतुओं से भिन्न बतलाया गया है, जो कारण अनुमान का हेतु नहीं है, उनको हेतु मानकर अनुमान का खण्डन करना ठीक नहीं, क्योंकि जल के वेग से चलने और उसमें झाग, लकड़ी, पत्ते आदि को बहते और पानी को मैला देखने से पहाड़ में वर्षा होने का अनुमान किया जाता है, केवल जलके आधिक्य से अनुमान नहीं किया जाता। जलको रोक देने से उक्त तीनों बातें तो न होंगी, केवल जलकी अधिकता होगी, इस लिये यह अनुमान का कारण ही नहीं और नहीं इससे कोई बुद्धिमान् अनुमान करेगा।

चींटियों के बहुत देर तक अण्डों को लेकर चलने से वर्षा का अनुमान होता है, उपघात से जो वे अण्डों को लेकर चलती हैं, वह तात्कालिक होने से अनुमान का प्रयोजक नहीं। मयूर के सदृश मनुष्य के शब्द से जो मयूर के होने का अनुमान करता है, यह मिथ्यानुमान भ्रान्ति से अर्थात् वास्तविक और कृत्रिम शब्द में भेद न करने से होता है, इसलिये यह अनुमान नहीं है। तीनों प्रकार के अनुमान के खण्डन में जो हेतु दिये थे, उन का उत्तर दिया गया, जो कि अनुमान् तीनों कालों का होता है, इसलिये वर्त्तमान काल को जो भूत और भविष्य के भेदों का कारण है। सिद्ध करते हैं, प्रथम वादी निम्न लिखित सूत्र में वर्त्तमान की सत्ता का निषेध करता है।

वर्त्तमानाभावः पततः पतितव्यकालोपपत्तेः ॥३७॥ (पूर्वपक्ष)

अर्थ-जब वृक्ष से फल नीचे को गिरता है तब वृक्ष और भूमि में जो अन्तर है, उस में से जो अन्तर गिरते हुवे फल और वृक्ष में होता है, उसे भूत काल कहते हैं और जो अन्तर फल और भूमि में होता है, वह भविष्य काल है, अर्थात् वृक्ष से फल के गिरने में जो समय लगा है, वह भूतकाल है और फल के भूमि तक पहुंचने में जो समय लगेगा, वह भविष्य काल है, तीसरा कोई अन्तर नहीं, जिसके लिये वर्त्तमान कालकी सत्ता मानी जावे। इसलिये वर्त्तमान का होना सर्वथा असम्भव है। इसका उत्तर सूत्रकार गौतम देते हैं:-

सू०-तयोरप्यभावो वर्त्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥३८॥
(उत्तरपक्ष)

अर्थ-यदि वर्त्तमान काल को न माना जावे, तो भूत और भविष्य काल भी नहीं रह सकते। क्योंकि दोनों वर्त्तमान काल की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं। (प्रश्न) जब वृक्ष से फल गिरता है तब फल और वृक्षके अन्तर जो समय था, उसका नाम भूतकाल और फल और भूमि के मध्य जो अन्तर है, उसके तै करने में जो समय लगेगा वह भविष्य काल है। जब कि तीसरा कोई अन्तर ही नहीं तो उसके लिये तीसरा काल अर्थात् वर्त्तमान किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा? (उत्तर) जिस स्थान पर फल को विद्यमान देखकर वृक्ष से फल तक और फल से भूमि तक अन्तर मान कर उसके आक्रमण करने के लिये भूत और भविष्यकाल को मानते हो,

क्या उस स्थान में अन्तर नहीं है ? या उस स्थान के गुज़रने में कोई समय नहीं लगता ? न तो वह स्थान जहांपर फल विद्यमान है, अन्तर होसका है, और नहीं विना समय के उस में गुज़र होसका है। इस लिये जो समय वहां की स्थिति में लगता है, वही वर्त्तमान काल है। (प्रश्न) समय क्या वस्तु है ? (उत्तर) समय वह है, जिस का सम्बन्ध अनित्य पदार्थों से हो और नित्य से न हो। अनित्य पदार्थों में यह इस से पहले है और यह इसके पीछे है इस प्रकार के ज्ञान से समय की सत्ताका बोध होता है, इसीलिये जिन पदार्थों को समय की सीमा में पाते हैं, उन्हें अनित्य कहते हैं और जो समय से बाहर हैं, वे नित्य कहलाते हैं। इस प्रकार पदार्थों के अनित्य और नाशशील होने से समय तीन प्रकारका है। प्रथम वह समय जो वस्तु की उत्पत्ति से पहले का था, जिसको भूतकाल कहते हैं। दूसरा वह जो वस्तु की उपस्थिति का है, जिसे वर्त्तमान काल कहते हैं। तीसरा वह समय जब कि वह वस्तु न रहेगी, इसे भविष्य काल कहते हैं। जब कि भूत और भविष्य दोनों वर्त्तमान की अपेक्षा से हैं, तब वर्त्तमान के रहने से वे दोनों नहीं रह सकते। वर्त्तमान की सिद्धि में सूत्रकार और भी हेतु देते हैं :—

सूत्र—नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षा सिद्धिः ॥३९॥

(उत्तरपक्ष)

अर्थ-भूत और भविष्य में परस्पर कोई सम्बन्ध और अपेक्षा नहीं है, ये दोनों वर्त्तमान की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं, जो वर्त्तमान से पहले होचुका, वह भूतकाल है और जो उस से आगे होगा, वह भविष्य काल है। वर्त्तमान का छोड़ देने से भूत और भविष्य में कोई सम्बन्ध या अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये वर्त्तमान के खण्डन से तीनों कालों का खण्डन होजाता है। जब कि वादी भूत और भविष्य दोनों कालों को मानता है तो वह उनके आधार वर्त्तमान काल से कैसे इन्कार कर सकता है। अब वादी को या तो तीनों कालों से इन्कार करना पड़ेगा, या तीनों को मानना पड़ेगा पहिली दशा में तो वह प्रतिज्ञा हानिरूप निग्रह स्थान में पड़ेगा, क्योंकि उसने आक्षेप करते समय भूत और भविष्य दोनों कालों को स्वीकार किया था, अब इनसे इन्कार किस तरह कर सकता है। दूसरी दशा में आक्षेप ही निर्मूल हो जाता है, क्योंकि जिस वर्त्तमान

काल का खण्डन किया था उसको भी स्वीकार कर लिया। वर्त्त-मान की सिद्धि में सूत्रकार और भी प्रमाण देते हैं।

सूत्र–वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्ते ॥४०॥

(उत्तरपक्ष)

अर्थ–यदि वर्त्तमान काल को न माना जावे तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा से जो ज्ञान होता है, उस सब का लोप हो जावेगा। क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस को प्रत्यक्ष कहते हैं। जो वस्तु वर्त्तमान है, उसको इन्द्रिय ग्रहण कहते हैं अविद्यमान को नहीं। यदि यह माना जावेगा कि विद्यमान कोई वस्तु नहीं तो प्रत्यक्ष का कारण और प्रत्यक्ष होने वाली वस्तु और प्रत्यक्ष ज्ञान इन सब का विलोप हो जावेगा और प्रत्यक्ष के सिद्ध न होने से अनुमानादि प्रमाण भी जो प्रत्यक्ष से सिद्ध होते हैं असिद्ध हो जायेंगे और फिर सब प्रमाणों के विलोप होने से किसी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान न हो सकेगा। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाण और उस से होने वाले ज्ञान की सिद्धि के लिये भी वर्त्तमान काल को अवश्य मानना पड़ेगा। वर्त्तमान काल कहीं तो वस्तु की सत्ता से जाना जाता है और कहीं क्रिया से उपलक्षित होता है जैसे किसी वस्तु के उपस्थित होने से उसकी सत्ता वर्त्तमान कालको बतलाती है और क्रिया में जैसे लिखता है, बोलता है, इस से भी वर्त्तमान काल में लिखना और बोलना सिद्ध होता है और क्रिया के सम्पादन में और जितने साधन हैं, उनको क्रियासन्तान कहते हैं। जैसे लिखने के वास्ते पत्र, लेखनी और दवात आदि, ये सब क्रिया के अङ्ग हैं। (प्रश्न) वर्त्तमान काल की सीमा क्या है? (उत्तर) जब तक कार्य आरम्भ होकर क्रियासन्तान की प्रवृत्ति रहती है अर्थात् उस कार्य के अवसान तक वर्त्तमान काल कहाता है। अब सूत्रकार भूत और भविष्य का लक्षण करते हैं।

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥४१॥(उत्तरपक्ष

जब कोई कार्य आरम्भ होकर समाप्त होजावे, उसको भूत काल कहते हैं, उस में क्योंकि क्रिया की समाप्ति होचुकी है, इसलिये उस को कृतता कहतेहैं, जैसे कहा जावे कि "देवदत्त पुस्तक लिखचुका" यहां लिखना क्रिया की समाप्ति हो चुकी, इस भूतकाल को सूत्रकार ने कृतता शब्द से निर्देश किया है। जब कोई कार्य अभी आर-

म्भ नहीं हुवा, न कोई क्रिया सन्तान ही उपयोग में लाये गये हैं, किन्तु उस कार्य्य के आरम्भ करने का मन में सङ्कल्प है, वह अनागत या भविष्य काल है, उस में क्योंकि अभी क्रिया का आरम्भ ही नहीं हुआ, इस लिये उसको कर्त्तव्यता के शब्द से निर्देश कियाहै अर्थात् जो किया जायगा, जैसे कहा जावे कि "देवदत्त पुस्तक लिखेगा" यहां अभी लिखना क्रिया का आरम्भ नहीं हुआ, इन दोनों के अतिरिक्त जब कोई कार्य आरम्भ तो होगया है, परन्तु अभी समाप्त नहीं हुआ है यह न तो भूतकाल ही है, न भविष्यकाल, किन्तु इसको वर्त्तमान काल, कहते हैं। इस को न तो कृतता के शब्द से निर्देश किया जा सकता है, न कर्त्तव्यता के, किन्तु इसे क्रियमाण शब्द से निर्देश किया जायगा। इस क्रियमाण को न तो भूतकाल में सन्निविष्ट कर सकते हैं क्योंकि अभी क्रिया की समाप्ति नहीं हुई और न भविष्यकाल में इस की गणना हो सकती है, क्योंकि कार्यारम्भ होगया है। अतएव भूत और भविष्य इन दोनों से व्यतिरिक्त यह तीसरा वर्त्तमानकाल है, जिस से भूत और भविष्य का मानने वाला कभी इन्कार नहीं कर सकता। अनुमान की परीक्षा हो चुकी, उसी के प्रसंग में कालविवेचन भी किया गया, अब उपमान की परीक्षा आरम्भ करते हैं। प्रथम सूत्र में पूर्वपक्ष का आश्रय लेकर उपमान का खण्डन किया है :—

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ॥४२॥ (पूर्वपक्ष)

वादी कहता है, तुम जो उपमान प्रमाण मानते हो, उस की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि उपमान के लक्षण में तुमने यह बतलाया था कि साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करना उपमान है। अब साधर्म्य का होना तीन दशाओं में हो सकता है। प्रथम तो अत्यन्त साधर्म्य अर्थात् समस्त लक्षणों का मिलजाना। यह तो उपमान कहला ही नहीं सकता। जैसे कोई कहे गौ के सदृश गौ होती है, इस को कोई उपमान नहीं कह सकता। दूसरे बहुत से लक्षणों के मिलने से भी उपमान नहीं होता, जैसे गौ के चार पैर हैं, भैंस के भी चार पैर हैं। गौ के सींग हैं, भैंस के भी सींग हैं, गौ के पूंछ है, भैंस के भी पूंछ है। इस प्रकार अनेक धर्मों के मिलने से गौ की उपमा भैंस से नहीं दी जासकती। तीसरे किसी एक धर्म के मिलने से भी उपमान की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की किसी दूसरी वस्तु के साथ किसी न किसी धर्म में समा-

नता होती है। जैसे सरसों का दाना मूर्तिमान् है और हिमालय पहाड़ भी मूर्तिमान् है, केवल मूर्तिमान् होने से ये दोनों उपमेय और उपमान नहीं हो सकते। अतएव न तो सब धर्मों के मिलने से न अनेक धर्मों के मिलने से और न किसी एक धर्म के मिलने से उपमान की सिद्धि होती है। अतः उपमान को प्रमाण मानना ठीक नहीं। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं।

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥४३॥

(उत्तरपक्ष)

उपमान के लिये प्रसिद्ध धर्मों का मिलना आवश्यक है, क्योंकि हमने उपमान के लक्षण में प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करना कहा था, अत्यन्त अधिक और एक धर्म की समता को उपमान नहीं कहा, इसलिये उक्त सूत्र में कहे हुवे दोष प्रसिद्ध साधर्म्य से सिद्ध होने वाले उपमान में नहीं लग सकते। इस पर वादी फिर आक्षेप करता है :—

प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४४ ॥ (पूर्वपक्ष)

इस प्रकार से जो प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का सिद्ध होना माना गया है, वह अनुमान के अन्तर्गत है। जैसे धूम को प्रत्यक्ष देखकर अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होजाता है। ऐसे ही प्रत्यक्ष गौ को देख कर अप्रत्यक्ष नील गाय का अनुमान हो सकता है। जब अनुमान और उपमान में कुछ भेद नहीं तब अनुमान की उपस्थित में उपमान का मानना निरर्थक है। इसका उत्तर दिया जाता है।

नाऽप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ॥ ४५ ॥

(उत्तरपक्ष)

वादी का यह आक्षेप निर्मूल है, क्योंकि जबतक प्रमाता नील गाय को प्रत्यक्ष न देखले, तब तक केवल गाय के देखने से वह अप्रत्यक्ष नीलगाय को नहीं जान सकता। किन्तु धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करने वाला यह कह सकता है कि वहां अग्नि है इसका कारण स्पष्ट है कि धूम और अग्नि का परस्पर सम्बन्ध है, इस लिये धूमके देखनेसे अग्निका ज्ञान होजाता है, परन्तु ऐसा संबंध गौ और नीलगाय में नहीं है कि गौ के देखने से नीलगाय का ज्ञान हो जावे। इसलिये गौ के प्रत्यक्ष से नीलगाय का अनुमान नहीं हो सकता, किन्तु उसको प्रत्यक्ष देखने से उसका ज्ञान होता है। अतः

यह आक्षेप कि उपमान में प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान होता है, ठीक नहीं। दूसरी बात यह है कि अनुमान में साध्य और साधन (अग्नि और धूम) दोनों का ज्ञान होता है, किन्तु उपमान में एक साथ दोनों की सिद्धि नहीं होती और अनुमान अपने लिये होता है और उपमान दूसरे के लिये। जैसे देवदत्त ने धूम को देखा और उसे अग्नि का ज्ञान होगया, उपमान में जो बतलाया है, उसे ज्ञान होता किन्तु उसे बतलाया जाता है उसे ज्ञान होता है। (प्रश्न) अनुमान और उपमान में क्या भेद है ? (उत्तर) अनुमान तो व्याप्ति अर्थात् दो पदार्थों के सम्बन्ध से होता है किन्तु उपमान विशेष धर्म के सादृश्य से होता है अनुमान का फल अपने को मिलता है और उपमान का फल दूसरे को उपमान की सिद्धिमें और भी हेतु दिया जाता है।

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाऽविशेषः॥४६ (उत्तरपक्ष)

जैसा देवदत्त है, वैसा ही विष्णुमित्र भी है यह सादृश्य ज्ञान संसार में देखा जाता है, यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से सिद्ध नहीं हो सका, इस लिये इसके लिये तीसरा उपमान प्रमाण माना गया है उपमान की परीक्षा समाप्त हुई, अब शब्द प्रमाणकी परीक्षा आरम्भ की जातीहै। पहले उस पर वादी आक्षेप करता है।

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात्॥४७॥ (पूर्वपक्ष)

शब्द अनुमान से व्यतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं हो सका, क्योंकि जिस प्रकार अनुमेय के सम्बन्ध ज्ञान से अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्धसे भी जो ज्ञान उत्पन्न होता वह अनुमेय है। जैसे एक नियत चिन्ह धूम को देखकर अग्निका अनुमान किया जाता है वैसे ही नियत शब्द अग्नि या वह्निको सुन कर आग का ज्ञान होजाता है इसलिये अनुमान और शब्द में कोई भेद मालूम नहीं होता, शब्द को एक प्रथक् प्रमाण मानना व्यर्थ है। (प्रश्न) क्या शब्द और अनुमान दो पृथक् पदार्थ नहीं ? (उत्तर) जब कि शब्द और अनुमान से एकसा ज्ञान होता है और उसका कारण भी व्याप्तिज्ञान एक ही है तो फिर दोनों को एक ही प्रमाण क्यों न माना जावे। (प्रश्न) क्या शब्द और अर्थ का संबंध उसी प्रकार का है, जैसा कि लिङ्ग और लिङ्गी का ? (उत्तर) किसी अर्थ को प्रकाश करने के लिये जब कोई शब्द कहा जाता है तो वह उसी अर्थ को प्रकाश करता है जिस के लिये कहा गया है, तद्तिरिक्त

वा तद्भिन्न अर्थ को नहीं। इसी प्रकार लिङ्ग भी अपने लिङ्गी के सिवाय और किसी वस्तु को नहीं बतलाता. अतएव इन दोनों को एक ही मानना चाहिये। सूत्रकार पूर्वपक्षकी पुष्टिमें दूसरा,हेतु देते हैंः—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ ४८ ॥

यदि शब्द अनुमान से भिन्न दूसरा प्रमाण होता, तो उसकी प्रवृत्ति अनुमान से भिन्न प्रकार की होती, किन्तु इन दोनों की प्रवृत्ति एक ही प्रकार की देखने में आती है, क्योंकि जिस प्रकार प्रत्यक्ष धूम को देखकर अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान होता है, ऐसे ही प्रत्यक्ष शब्द से अप्रत्यक्ष अर्थ जाना जाता है, इस लिये जो ज्ञान शब्द से होता है, उसको भी अनुमान ही समझना चाहिये। इसी की पुष्टि में एक हेतु और दिया जाता हैः—

सम्बन्धाच्च ॥ ४९ ॥ (पूर्वपक्ष)

जैसा लिङ्ग लिङ्गी का सम्बन्ध अनुमान में देखा जाता है, ऐसा ही सम्बन्ध शब्द और अर्थ का भी पाया जाता है, अतएव शब्द अनुमान से भिन्न और कोई प्रमाण नहीं अब इन शङ्काओं का उत्तर सूत्रकार देते हैं :—

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः ॥५०॥(उत्तरपक्ष)

शब्द और अनुमान एक नहीं, क्योंकि अनुमान व्याप्ति ज्ञान से प्रमाण माना जाता है और शब्द आप्तोपदेश होनेसे। आप्तोपदेश पर विश्वास का होना ही शब्द प्रमाण है, किन्तु अनुमान में किसी के विश्वास या भरोसे से काम नहीं लिया जाता, उसमें प्रत्यक्ष का कारण लिङ्ग और लिङ्गी तथा उनके सम्बन्ध का ज्ञान है। परन्तु शब्द प्रमाण में प्रत्यक्ष का कारण केवल शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही नहीं है, किन्तु मुख्य कारण आप्तोपदेश पर विश्वास है। इस लिये शब्दप्रमाण अनुमान के अन्तर्गत नहीं हो सकता। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को मानकर जो हेतु दिया था, अब उसका खण्डन करते हैं।

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ५१ ॥ (पूर्वपक्ष)

वादी ने जो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बतलाया है, वह प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार धूम को देख कर वहां पर जाकर अग्नि को प्रत्यक्ष कर सकते हैं, इस प्रकार शब्द को देखकर

उसके अर्थ का प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं हो सकता। (प्रश्न) यद्यपि शब्द को देखकर उसके अर्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, तथापि शब्द के सुनते ही उसका अर्थ ज्ञान में भासित होने लगता है, जैसे किसी मनुष्य से यह कहा जावे कि "तुम्हारा पुत्र मर गया" इसके सुनते ही आकृति विगड़जाती है, इस से जाना जाता है कि शब्द और अर्थका नियत सम्बन्ध है। (उत्तर) तुम्हारे इस कथन से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, क्योंकि या तो यह मानो कि शब्द के भीतर अर्थ मौजूद है या अर्थ के भीतर शब्द और जिस के पुत्र न हो, उसको यह कह देने से कि "तुम्हारा पुत्र मरगया" कुछ भी शोक न होगा इस लिये जब तक यह ज्ञात न होजावे कि शब्द और अर्थ का किस प्रकार का सम्बन्ध है शब्द अनुमान नहीं हो सकता। (प्रश्न) हम शब्द और अर्थ केसम्बन्धको ऐसा मानते हैं कि शब्द के कहते ही उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। इस का खण्डन सूत्रकार करते हैं :—

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाऽभाव ॥ ५२ ॥

(उत्तरपक्ष)

यदि यह माना जावे कि शब्द के भीतर ही उसका अर्थ रहता है, तो जो मिसरी का नाम ले उसका मुंह मीठा हो जाना चाहिये और जो अन्न शब्द का उच्चारण करे, उसको पेट भरजाना चाहिये और अग्नि शब्द के कहते ही मुंह जल जाना चाहिये और खड्ग का नाम लेते ही मुंह कट जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता, इस से जाना जाता है कि शब्द और अर्थ में ऐसा सम्बन्ध नहीं कि शब्द के कहते ही अर्थ का ज्ञान होजावे और नहीं शब्द के भीतर अर्थ रहता है। यदि यह कहा जावे कि अर्थ के अन्दर शब्द रहता है तो कण्ठादि में अर्थ के रहने का कोई स्थान नहीं इसलिये शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानना ठीक नहीं। (प्रश्न) यदि शब्द से अर्थ का सम्बन्ध नहीं है तो शब्द के कहने से अर्थ का ज्ञान कैसे हो जाता है? (उत्तर) शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु कल्पित या पारिभाषिक है, जिस देश के निवासियों ने जिस शब्द को अपनी भाषा में जिस अर्थ के लिये नियत करलिया है, उनको उस शब्दके सुननेसे उसी अर्थका बोध होता है, मानो शब्द उनकी नियत की हुई परिभाषाको स्मरण करा देता है, जैसे "गदहा" शब्द संस्कृत में औषधि या वैद्य का वाचक

है, परन्तु हिन्दी भाषा में "गदहा" खर को कहते हैं। यदि संस्कृत में इस शब्द से किसी को पुकारा जावेगा तो वह अपना गौरव समझ कर प्रसन्न होगा। परन्तु यदि किसी हिन्दीभाषी से यहशब्द कह दिया जाय, तो वह केवल इसको अपनी मानहानि ही नहीं समझेगा, किन्तु लड़ाई लड़ने पर उद्यत होजायगा। फिर शङ्का करते हैं :–

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥ (पूर्वपक्ष)

जो कि शब्द का अर्थ नियत है, अर्थात् जिस शब्द का जो अर्थ नियत है, उसका वही अर्थ लिया जाता है, अन्य नहीं, जिस से स्पष्ट जाना जाता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है। यदि शब्द और अर्थ का कुछ भी सम्बन्ध न होता तो घट शब्द के कहने से केवल घड़े का बोध न होता, किन्तु अन्य पदार्थों का भी होता। अतः शब्द और अर्थ की व्यवस्थिति होने से इन दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य है इसका उत्तर देते हैं :—

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥५४॥ (उत्तरपक्ष)

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु देश कालानुसार कल्पित है अर्थात् जहां जिस शब्द के जो अर्थ लेने चाहियें, वहां वही लिये जाते हैं। एक भाषा में एक शब्द का कुछ और अर्थ है, दूसरी भाषा में उसका अर्थ बिलकुल उसके विपरीत है। इससे विदित होता है कि शब्द से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भिन्न २ दशाओं में भिन्न २ प्रकार का होगा। जैसे तीर्थ शब्द पढ़नेवालों की परिभाषा में गुरु का वाचक है, वही पुराणों में जल स्थलमयादि स्थानों का वाचक है, वाममार्गियों की बोल चाल में वही मद्य का पर्याय है। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध केवल औपचारिक है, जो मनुष्य उस नियत परिभाषा से अनभिज्ञ है, वह बार २ उस शब्द के सुनने से भी उसके अर्थ को नहीं जान सकता। इस पर और भी युक्ति देते है।

जातिविशेषे चानियमात् ॥ ५५ ॥ (उत्तरपक्ष)

जोकि जातिविशेष में भी इसका कोई नियम नहीं है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का ही वाचक होगा। जैसे सूर्य का प्रकाश सब जातियों और व्यक्तियों के लिये एकसा है, उस में देशकृत या कालकृत कोई भेद नहीं, इस प्रकार शब्द समस्त जातियों में तो क्या एक जाति में भी समानरूप से व्यापक नहीं है। भाषा प्रवर्त्तकों

ने जो परिभाषायें नियत करदी हैं, वे अपनी २ सीमा तक प्रचलित हैं, उनके बाहर उनको कोई जानता भी नहीं। अतएव शब्द अर्थ का सम्बन्ध एकदेशी तथा कल्पित होने से नित्य नहीं हो सकता और जब नित्य नहीं है, तो वह केवल आप्तोपदेश होने से प्रामाणिक हो सकता है। अब वादी शब्द की अप्रमाणिकता में और भी हेतु देता है।

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः॥५६॥ पूर्वपक्ष

अनृत (मिथ्या) व्याघात (विरोध) और पुनरुक्त (एक ही बात को बार २ कहना) इन तीनों दोषों से युक्त होने के कारण शब्द (आप्तोपदेश) अप्रमाण है। जैसे शास्त्र में लिखा है "पुत्रका चाहने वाला पुत्रेष्टि यज्ञ करे, या स्वर्ग का चाहने वाला यज्ञ करे"। बहुत से मनुष्य पुत्रेष्टि करने पर भी पुत्रवान् नहीं होते, इसी प्रकार यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति भी सन्दिग्ध है, बहुत से मनुष्य नित्य यज्ञ करते हैं, जब उन को यहीं पर स्वर्ग नहीं मिलता तब परलोक में स्वर्ग प्राप्ति कल्पित ही समझनी चाहिये। कहीं पर लिखा है कि सूर्योदय के पहले हवन करना चाहिये, कहीं सूर्योदय के पश्चात् हवन करना लिखा है इस प्रकार शास्त्रों में परस्पर विरोध भी पाया जाता है। और पुनरुक्ति दोष (एक ही बात को बार २ कहना) तो प्राचीन ग्रन्थों में भरा पड़ा है, जो ग्रन्थ जितना प्राचीन है उतनाही उसमें पुनरुक्ति दोष अधिकता से विद्यमान है। शब्द में प्रायः ये तीन दोष पाये जाते हैं, इस लिये वह प्रमाण नहीं होसकता। अगले सूत्रों में क्रमसे इनका उत्तर दियागया है। प्रथम अनृत दोष का परिहार करते हैं।

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्॥५७॥ (उत्तरपक्ष)

वादी ने जो शब्दप्रमाण के खण्डन में अनृत (मिथ्यावादी) का दोष आरोपित किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि कर्म का फल केवल उपदेश पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु कर्म, कर्त्ता और साधन इन तीनों से उसका सम्बन्ध है, यदि इन तीनों में से कोई विगुण (अनुपयोगी) होगा तौ निर्दिष्ट फलसिद्धि में अवश्य भेद पड़ेगा। जैसे किसी रोग के लिये कोई ओषधि है, वैद्यने उसका ठीक निदान न कर सकने से दूसरी ओषधि देदी और उस से रोग दूर न हुवा या और बढ़गया तो इस में ओषधि का क्या दोष है? इसी प्रकार जिस रीति से या जिन साधनों से ओषधि का प्रयोग

उस रोग में होना चाहिये, उस प्रकार नहीं कियागया, तव भी उस ओषधि को या उसके प्रयोग को निष्फल नहीं कहा जा सकता। यही दशा पुत्रेष्टि यज्ञ की भी होसकती है अर्थात् यज्ञकर्त्ताओं के दोष से अथवा यथा समय और यथाविधि यज्ञ के न होने से पुत्रोत्पत्ति न होने पर वेद का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता। (प्रश्न) यदि उपदेष्टा ठीक ठीक उपदेश करे तो उसके अनुसार काम करने वाला अवश्य कृतकार्य होना चाहिये। यदि उपदेशानुसार काम करने पर भी यथोक्त फलसिद्धि नहीं होती तो वह उपदेश अवश्य मिथ्या है। (उत्तर) प्रत्येक काम ज्ञान और क्रिया दो बातों से सम्बन्ध रखता है, जब तक ये दोनों ठीक और एक दूसरे के अनुकूल नहीं, तब तक अभीष्ट फल की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि ज्ञान में त्रुटि है तो कर्म ठीक हो ही नहीं सकता, यदि कर्म में त्रुटि रहजावे तो केवल ज्ञान से इष्टार्थ की सिद्धि नहीं होगी। यही कारण है कि प्रायः वैज्ञानिक कर्म सर्व साधारण की समझमें नहीं आते, इस लिये आप्तोक्त शब्द में मिथ्यावाद का दोष लगाना ठीक नहीं। अब व्याघात दोष का परिहार करते हैं।

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्॥ ५८॥ (उत्तरपक्ष)

जो दृष्टान्त व्याघात दोष के लिये दिया गया है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहां काल का भेद है। अग्निहोत्र के दो काल हैं, प्रातःकाल का अग्निहोत्र सूर्य्योदयसे पहले कियाजाता है और सायंकाल का अग्निहोत्र सूर्य्यास्त से पहले होना चाहिये। यदि एक काल के विषय में दो भिन्न २ सम्मति हों तो अर्थात् कहीं प्रातःकाल का अग्निहोत्र सूर्योदयसे पहले बतलाया गया होता और कहीं पश्चात् तो व्याघात (परस्परविरोध) हो सकता था किन्तु दो भिन्न २ कालों के विषय में दो सम्मतियों का होना व्याघात नहीं है। अब पुनरुक्ति का परिहार करते हैं।

अनुवादोपपत्तेश्च॥ ५९॥ (उत्तरपक्ष)

जहां किसी प्रयोजन से एक बात दो बार कही जावे, वहां पुनरुक्ति दोष नहीं होता, किन्तु वह अनुवाद कहलाता है। अनुवाद किसी प्रयोजन से किया जाता है, इसलिये वह दोष नहीं। वेदों में जहां किसी मन्त्र या उस के किसी पद को दो बार या कई बार उच्चारण किया गया है, साधारण लोगों को चाहे उस में पुनरुक्ति का भ्रम हो, किन्तु सप्रयोजन होने से अर्थज्ञ लोगों की

दृष्टि में वह अनुवाद है। अनुवाद के प्रमाण होने में दूसरा हेतु देते हैं।

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥६०॥ (उत्तरपक्ष)

विद्वानों ने जो वाक्य के वक्ष्यमाण तीन तीन विभाग किये हैं, उन से भी अनुवाद की सार्थकता सिद्ध होती है। वे विभाग निम्न लिखित हैं।

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥६१॥ (उत्तरपक्ष)

आप्तोपदेश में तीन प्रकार के वाक्य होते हैं, जिनके नाम ये हैं, (१) विधिवाक्य (२) अर्थवादवाक्य (३) अनुवादवाक्य इनके लक्षण आगे सूत्रकार खुद करते हैं।

विधिर्विधायकः ॥ ६२ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिस वाक्य में किसी काम के करने की प्रेरणा या आज्ञा पाई जावे, उसे विधिवाक्य कहते है जैसे कहा जाय कि यज्ञ करो, दान दो, विद्या पढ़ो, इत्यादि, इसका नाम विधि है। (प्रश्न) क्या विधि में करने का ही उपदेश होता है या छोड़ने का भी, क्योंकि प्रायः शास्त्रों में झूंठ मत बोलो, हिंसा मत करो, इत्यादि निषेधमुख वाक्य भी देखे जाते हैं। (उत्तर) विधि दो प्रकारका है एक उपादेय का ग्रहण दूसरे हेय का त्याग। इसलिये निषेध के तात्पर्य को भी विधि के अन्तर्गत मानकर यहां उसका पृथक् ग्रहण नहीं किया क्योंकि ये दोनों चाहे कहने में भिन्न २ मालूम हों, परन्तु तात्पर्य इन का एकही है, जो प्रयोजन सच बोलनेका है वही झूंठ न बोलने का भी है। अब अर्थवाद का लक्षण कहते हैं।

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६३ ॥
(उत्तरपक्ष)

अर्थवाद चार प्रकार का होता है, जिन के नाम ये हैं [१] स्तुति [२] निन्दा [३] परकृति [४] पुराकल्प। (प्रश्न) स्तुति किसे कहते हैं? (उत्तर) स्तुति उस को कहते हैं कि जिस वाक्य के सुनने से श्रोता के हृदय में उस काम के लिये प्रीति और श्रद्धा उत्पन्न होजावे जैसे कहा जावे कि जो विद्या पढ़ता है, वह यशस्वी होता है, शत्रु भी उसका आदर करते हैं। इस लिये मनुष्य को विद्या पढ़नी चाहिये। (प्रश्न) निन्दा किसे कहते हैं?(उत्तर) निंदा उसे कहते हैं कि जो बुरे

काम के दोष और उसके अनिष्ट परिमाणों को वर्णन करके श्रोता को उस काम से विमुख और निवृत्त कर देना। यथाः-जो मूर्ख रहता है, उसकी बड़ी दुर्गति होती है, उस के अपने भी उस की तरफ आंख उठाकर नहीं देखते। इस लिये मनुष्य को मूर्ख कभी न रहना चाहिये। (प्रश्न) परकृति किस को कहते हैं? (उत्तर) दूसरों के किये हुवे अच्छे या बुरे कर्मों का दृष्टान्त देकर और उनकी स्तुति एवं निन्दा करके अच्छे कर्म में प्रवृत्ति दिलाना और बुरे कर्म से हटाना परकृति कहलाती है। जैसे किसी ने कहा कि राजा युधिष्ठिर सच बोलने के कारण परम धर्मात्मा थे, किन्तु एक वार झूंठ बोलने से थोड़ी देर के लिये उन को भी नरक में जाना पड़ा। (प्रश्न) पुराकल्प किसे कहते है? (उत्तर) जिन कामों या उपदेशों को प्राचीन काल के विद्वानों ने किया या कहा हो या जो शिष्ट परम्परा हो, उस को इतिहास और शास्त्रों से निश्चय करके तदनुसार आचरण करना पुराकल्प कहलाता है, जैसे कहा जावे कि इसी लिये पहले ब्राह्मणों ने विद्या पढ़ना अपना धर्म समझा था कि विना उस के और किसी उपाय से भी आत्मा की शान्ति नहीं हो सकती। अब तीसरे अनुवाद का लक्षण कहते हैं।

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६४ ॥ (उत्तरपक्ष)

जो बात एक वार कह दीगई, उस का पुनः कहना अनुवचन कहलाता है, जिसका विधि से विधान किया गया है, उस का अनुवचन अनुवाद कहलाता है। अनुवाद दो प्रकार का है (१) शब्दानुवाद दूसरा अर्थानुवाद। जहां विधि का अनुवाद किया जावे वह शब्दानुवाद है और जहां विहित का अनुवाद हो, उसे अर्थानुवाद कहते हैं। जिस प्रकार वेद में तीन प्रकार के वाक्य हैं, ऐसे ही लोक में भी तीन प्रकार के वाक्य देखने में आते हैं। जैसे कोई स्वामी अपने भृत्य से कहे कि "स्नान करके भोजन बनाओ" यह विधि वाक्य है। यदि कहा जावे कि "सात्विक भोजन से आयु, तेज, स्वास्थ्य और स्मरणशक्ति बढ़ती है" तो यह वाक्य अर्थवाद कहलायेगा। यदि स्वामी भृत्य से कहे कि "पकाओ, पकाओ," अर्थात् शीघ्र पकाओ, और सब काम छोड़ कर पहले यह काम करो, यह अनुवाद है। जहां किसी शब्द या वाक्य के वार २ कहने से कोई अर्थ निकलता है, वह अनुवाद है और जहां निरर्थक वार २ उन्हीं शब्दों या वाक्यों का उच्चारण किया जाता है, उसको पुनरुक्ति

कहते हैं, बस यही दोनों में भेद है, कि वादी फिर आक्षेप करता है।

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषःशब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ ६५ ॥

(पूर्वपक्ष)

(प्रश्न) अनुवाद और पुनरुक्ति में कोई विशेष भेद नहीं दीखता, क्योंकि अभ्यास (पुनः२ शब्दों की आवृत्ति) दोनों में बराबर पाई जातीहै। इस लिये अनुवाद को पुनरुक्ति से पृथक् ठहरा कर प्रमाण मानना ठीक नहीं इसका उत्तर देते हैं :—

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६६ ॥

(उत्तरपक्ष)

उत्तर-यद्यपि शब्दों की पुनः पुनः आवृत्ति दोनों में बराबर है। तथापि अनुवाद और पुनरुक्ति में बहुत अन्तर है, क्योंकि शब्द या वाक्य किसी अर्थ को प्रकाश करने के लिये कहाजाता है सो अनुवाद में तो उस के कथन की सार्थकता है, पुनरुक्ति में नहीं। जैसे कोई कहता है कि "जाओ, जाओ" यहां दो बार कहने का स्पष्ट अर्थ यह है कि "शीघ्र जाओ" इसी प्रकार यदि किसी पुस्तक में किसी विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति से लिये कोई शब्द या वाक्य दो वार या कई वार उच्चारण कियागया है तो वह विशेष अर्थ का प्रकाशक होनेसे पुनरुक्त नहीं कहलायेगा और प्रमाण माना जायगा. हाँ जिस पुस्तक में निरर्थक एक ही बात बार २ कही गई हो और उससे किसी विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती वह पुनरुक्त कहलायेगी। (प्रश्न) कई मन्त्र ऐसे हैं कि जो चारों वेदों में बराबर आते हैं और कई ऐसे भी हैं जो एक ही वेद में कई बार आते हैं इसलिये पुनरुक्ति दोष होने से वेद अप्रमाण है। (उत्तर) प्रथम तो चारों वेदों के प्रकरण और उद्देश्य अलग २ हैं, अपने २ प्रकरण और उद्देश्य के अनुसार वे मन्त्र अपने २ अर्थ और अभिधेय को प्रकाश करते हैं। दूसरे वेदों में स्वरभेद भी अर्थभेद का कारण है, एक ही शब्द या पद स्वरभेदके कारण भिन्न २ अर्थों का वाचक हो जाता है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में "इन्द्रशत्रु" शब्द का उदाहरण दिया है, जो केवल स्वरभेद होने से भिन्न २ अर्थों को प्रकाश करता है। इसलिये वेदों में पुनरुक्ति की सम्भावना नहीं हो सकती। पुनः इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं :—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्॥ ६७॥

(उत्तरपक्ष)

मन्त्र जो वेद संहिता है, वह आयुर्वेद अर्थात् वैद्यक शास्त्र के तुल्य प्रमाण है * जिस प्रकार औषधियों के प्रयोग में उक्त तीनों दोष मालूम होते हैं किन्तु आयुर्वेद को अप्रमाण नहीं कह सकते। जैसे एक वैद्यने किसी रोगी को कोई औषधि दी और उस से उस का रोग दूर न हुआ तो इस से उस औषधि का प्रभाव नहीं बदल

---

* इस सूत्र का अर्थ जो श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती जी ने किया है, हम उससे सहमत नहीं हैं, कारण यहहै कि सूत्र में शब्द प्रमाण तो जिसमें मुख्य आप्तोक्त होने से सब भाष्यकारों ने वेद का ही ग्रहण किया है, साध्य है, "आप्तप्रामाण्यात्" आप्तोक्त होना यह हेतु है, जिस को अपने उत्तर में स्वामीजी भी स्वीकार करते हैं, "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्" मन्त्र और आयुर्वेद इन दोनों के प्रमाणके समान ये दो दृष्टान्त हैं अर्थात् जिस प्रकार मन्त्र या और आयुर्वेद का प्रमाण सिद्ध है, उसी प्रकार शब्द का भी, जिस को 'तद्' शब्द में परामर्श किया है, और जिस में वेद मुख्य हैं, प्रमाण मानना चाहिये। स्वामी जी मन्त्र शब्द से वेद का ग्रहण करते हुए उस को साध्य मान कर आयुर्वेद का दृष्टान्त देते हैं जो कि सर्वथा सूत्र के आशय और भाष्यकारों की सम्मति के विरुद्ध है। क्योंकि जब वेद तो शब्द प्रमाण के अन्तर्गत होने से साध्य था ही और स्वामी जी भी इस से पिछले सूत्रों में उसका साध्य होना स्पष्ट स्वीकार कर चुके हैं, तब उसी साध्य की सिद्धि में उसी का दृष्टान्त देना अपने कन्धे पर आप चढ़ना है।

इस लिये मन्त्र शब्द का जो यहां पर दृष्टान्त में दिया गया है, वेद संहिता अर्थ करना किसी तरह ठीक नहीं हो सकता। मालूम होता है स्वामी जी ने बिच्छू सांप और भूतों से घबराकर ऐसा अर्थ किया है, यद्यपि सद्विचार और सदुपयोग से (जो मन्त्र शब्द का वाच्यार्थ है) इनका निराकरण भी हो सकता है, तथापि स्वामी जी को यह अमन्तव्य ही था, तो मन्त्र शब्द के और भी बहुत से अर्थ हो सकते थे, जैसा कि पं० तुलसीराम जी स्वामी ने अपने न्यायदर्शन के अनुवाद में मन्त्र शब्द का अर्थ जप किया है और जप या अभ्यास के स्मृति रूप फल से कोई इन्कार नहीं कर सकता। तथा पं० आर्य्यमुनि जी प्रोफेसर डी० ए० वी० कालिज लाहौर ने इसी सूत्र में मन्त्र शब्द का अर्थ सत्य विचार का किया है, शुद्ध विचार का फल भी सर्व सम्मत है।   (अनुवादक)

जाता, किन्तु दो कारणों का अनुमान किया जाताहै। या तो औषधि बनाने वालेने उस को ठीक रीति पर नहीं बनाया, या चिकित्सककी भूल है, वह उसका अन्यथा प्रयोग करता है। इसी प्रकार वेद का प्रमाण है, जहां कहीं वेद के अर्थ या क्रिया में कुछ सन्देह या भेदसा मालूम पड़ता है, वहां या तो कर्त्ता में कोई दोष है, या उस कर्ममें, या उसके साधनों में। (प्रश्न) कोई २ इस सूत्र में आये मंत्र शब्द का अर्थ भूत और विच्छू आदि के झाड़ने का करतेहैं, क्या वह ठीक नहीं और तुमने जो मन्त्र का अर्थ "वेद" कियाहै, इस में क्या प्रमाण है? (उत्तर) भूत आदि भोले या डरपोक मनुष्यों की कल्पनाएं हैं और बिच्छू आदि की चिकित्सा भी केवल शब्द से नहीं हो सकी प्रायः इसमें छल किया जाता है, इसलिये मन्त्र शब्द से यह तात्पर्य लेना ठीक नहीं, क्योंकि कात्यायन आदि ऋषियों ने मन्त्र नाम वेद का माना है। (प्रश्न) वेद जब कि साध्य हैं तब उन्हों को प्रमाण मानकर हेतुमें रखना साध्यसम हेत्वाभास है, क्योंकि साध्यवस्तुका न तो प्रमाण ही हो सकता है और न उस का दृष्टान्त ही दिया जा सकता है। (उत्तर) ऋषि ने वेद को हेतु या दृष्टान्त में नहीं रक्खा है, किन्तु आयुर्वेद को दृष्टान्त में रखकर साध्य वेद को प्रमाण सिद्ध किया है और सर्वज्ञ का उपदेश होना हेतु यह दिया है। (प्रश्न) प्रकरण तो शब्दप्रमाण का था, उसमें वेद का प्रसङ्ग क्यों छेड़ दिया? (उत्तर) ऋषि के वेद को मन्त्र कहने का आशय भी यही है कि मन्त्र तो आयुर्वेद के समान स्वतः प्रमाण है, जिस प्रकार किसी औषधि के प्रभाव को सिद्ध करने के लिये सिवाय उस औषधिको किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार वेद का प्रमाण तो स्वमेव है, शेष शब्द मात्र का प्रमाण उसके वक्ता या लेखककी योग्यता पर निर्भर है। यदि वक्ता आप्त है तो उसकी उक्ति प्रमाण होगी और यदि अनाप्त होगा तो अप्रमाण।

न्यायदर्शनके दूसरे अध्यायका पहला आन्हिक समाप्त॥

(दूसरे अध्याय का दूसरा आन्हिक)

प्रमाणों की सामान्य परीक्षाके अनन्तर अब विशेष परीक्षा आरम्भ करते हैं, प्रथम वादी आक्षेप करता है कि चारही प्रमाण क्यों माने जावें, अधिक क्यों नहीं?

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥१॥ पू०

चारही प्रमाण मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये चार प्रमाण और भी हैं (प्रश्न) ऐतिह्य किसे कहते हैं ? (उत्तर) जिन बातों को परम्परा से सुनते चले आये हैं, या इतिहास ग्रन्थों में जिनका लेख मिलता है कि अमुक पुरुष हुआ और उसने ऐसा किया, इत्यादि पुरावृत्तों को इतिहास या ऐतिह्य कहते हैं। (प्रश्न) अर्थापत्ति का क्या लक्षण है ? (उत्तर) एक बात के कहने से जो दूसरी बात अर्थ से स्वयं जानी जाती है, उसको अर्थापत्ति कहते हैं, जैसे कोई कहे सत्य भाषण विश्वास का कारण है, इस एक बातके कहनेसे दूसरी बात कि मिथ्याभाषण अविश्वासका कारण है, स्वमेव सिद्ध होगई। (प्रश्न) सम्भव किसे कहते हैं? (उत्तर) जहाँ एक वस्तु विना दूसरी वस्तुके न ठहर सके, वहाँ एक के ग्रहण से दूसरे का ज्ञान होना सम्भव कहलाता है, जैसे श्रद्धा से प्रीति और ज्ञान से मुक्ति का होना सम्भव है। (प्रश्न) अभाव का लक्षण क्या है ? (उत्तर) जहां कारण न हो, वहां कार्य भी न होगा. इसको अभाव कहते हैं, जैसे मोह के अभाव में शोक और लोभ के अभाव में निन्दा भी न होगी। ऐतिह्यादि इन चार प्रमाणों के सिद्ध होने से आठ प्रमाण होते हैं, इसलिये प्रत्यक्षादि केवल चारही प्रमाणों का मानना ठीक नहीं। सूत्रकार इसका उत्तर देते हैं।

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रमाण चार ही हैं क्योंकि ऐतिह्य शब्दप्रमाण के अन्तर्गत है और अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये तीनों अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत हैं। (प्रश्न) शब्द प्रमाण में ऐतिह्य का सन्निवेश कैसे करते हैं ? (उत्तर) जैसे आप्तोपदिष्ट शब्द प्रमाण है, वैसे ही आप्त का लिखा हुआ इतिहास भी प्रमाण माना जायगा, अनाप्त का नहीं, जो कि आप्तोपदेशरूप लक्षण दोनों में समान है, इस लिये ये दोनों एक ही हैं। (प्रश्न) अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये तीनों अनुमान में किस तरह समाते हैं ? (उत्तर) किसी लिङ्ग के प्रत्यक्ष होने के पश्चात् उसके द्वारा अलिङ्गी का ज्ञान होना अनुमान कहाता है सो अर्थापत्ति में भी इसी अनुमान से काम लिया जाता है अर्थात्

जो सत्य नहीं बोलता, उसके विषय में यह अनुमान किया जायगा कि वह अवश्य मिथ्या बोलता होगा। दूसरा सम्भव भी अनुमान के अन्तर्गत है, क्योंकि एक वस्तु के ग्रहण से दूसरी का अनुमान स्पष्ट है, श्रद्धा को देखकर प्रीति और ज्ञान को देखकर मुक्ति का अनुमान किया जायगा। तीसरा अभाव भी अनुमान से विलक्षण नहीं। क्योंकि मोह के अभाव में शोक और लोभ के अभाव में निंदा की सम्भावना भी नहीं होसकती। इसलिये सब प्रमाण चार प्रमाणों के अन्तर्गत होने से अधिक प्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। (प्रश्न) क्या अनुमान और अर्थापत्ति आदि में कोई भेद नहीं? (उत्तर) अनुमान कई प्रकार का होता है, जो व्याप्ति ज्ञान से सम्बन्ध रखता है, अर्थापत्ति आदि भी विना सम्बन्ध के नहीं हो सकती। इस लिये ये सब अनुमान के भेदो में आजाती हैं, अनुमान के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं होसकता। अब वादी अर्थापत्ति पर आक्षेप करता है :—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥३॥ (पूर्वपक्ष)

अर्थापत्ति को प्रमाण मानना ठीक नहीं, क्योंकि उसमें व्यभिचार दोष है, जब यह कहते हैं कि बादल के न होने से वर्षा नहीं होती, तब अर्थापत्ति से यह सिद्ध होता है कि बादल के होने से अवश्य वर्षा होगी। परन्तु प्रायः अवसरों पर बादलके होने पर भी वर्षा नहीं होती, यही व्यभिचार दोष है। इसलिये अर्थापत्ति अप्रमाण है, इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं :—

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥४॥ (उत्तरपक्ष)

वादी ने जो अर्थापत्ति के प्रमाण होने में दोष दिया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि यह कहना बिलकुल ठीक है कि कारणके न होने से कार्य नहीं हो सकता। इस से यह अर्थापत्ति होती है कि कारण के होने से कार्य होता है। परन्तु न तो कारण के होने पर कार्य की अनुत्पत्ति से कारण की सत्ता में व्यभिचार दोषआता है और नहीं विना कारणके कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है। यदि कभी विना बादल के वृष्टि हो जाती तो व्यभिचार दोष आसकता था। क्यों कि प्रतिज्ञा यह थी कि विना बादलके वर्षा नहीं होती। इससे अर्थापत्ति यह निकाली गई कि बादल से वर्षा होती है। यदि कभी कहीं पर विना बादल के वर्षा होती तो व्यभिचार कहलाता। क्योंकि कारण

की विद्यमानता में भी किसी प्रतिबन्ध के होने से कार्य का न होना सम्भव है। प्रतिवादी का यह आशय नहीं था कि बादल के होने से अवश्य ही वर्षा होती है, किन्तु उसका आशय यह था, जिसको उसने अर्थापत्ति से सिद्ध करना था कि बादल के होने पर वर्षा होती है। इस वास्ते जब तक बिना बादल के वर्षा का होना सिद्ध न हो जावे, तब तक व्यभिचार दोष नहीं आसकता। वादी ने अनर्थापत्तिको अर्थापत्ति मानकर आक्षेप किया है इसलिये वह ठीक नहीं। इसपर एक हेतु और देते हैं :—

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥५॥ (उत्तरपक्ष)

व्यभिचार दोष लगाकर जो वादी ने अर्थापत्तिका निषेध किया है, जब कि यह खण्डन आप ही व्यभिचार दोष युक्त है, तब इससे अर्थापत्ति का खण्डन इस युक्ति से नहीं होसकता, किन्तु जहाँ पर भ्रान्ति से अनर्थापत्ति को अर्थापत्ति बनाया गया हो, वहीं पर यह दोष आसकता है और जहाँ ठीक अर्थापत्ति हो, वहां यह दोष नहीं लगता। इसलिये सब जगह लागू न होने से यह निषेध व्यभिचार युक्त है, और भी हेतु देते हैं :—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यऽप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥ (उत्तरपक्ष)

व्यभिचार होने पर भी कहीं उपयोगी होने से निषेध कोप्रमाण मान लिया जावे तो अर्थापत्ति को भी यथावसर उपयोगी होने से प्रमाण मानना पड़ेगा और यह हो नहीं सकता कि सव्यभिचार होने से निषेध को तो प्रमाण मान लिया जावे और अर्थापत्ति को प्रमाण न माना जावे। इस लिये इस युक्ति से भी अर्थापत्ति का प्रमाण होना सिद्ध है। अब अभाव के प्रमाणत्व में शङ्का करते हैं:—

नाऽभावप्रामाण्यं प्रमेयाऽसिद्धेः ॥ ७ ॥ (पूर्वपक्ष)

प्रत्येक प्रमाण प्रमेय की सिद्धि के लिये होता है,जब कि अभाव का कोई प्रमेय नहीं तो वह प्रमाण कैसे हो सकता है। (प्रश्न) बिना प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि नहीं होसकती, यह तो सर्वसम्मत है, किन्तु बिना प्रमेय के प्रमाण की सिद्धि नहीं होती, यह बात ठीक नहीं। (उत्तर) इस संसार में कोई वस्तु निष्प्रयोजन नहीं और प्रमाण से सिवाय प्रमेय ज्ञान के और कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिये ऐसा प्रमाण जिस का कोई प्रमेय न हो, व्यर्थ होने से माननीय नहीं हो सकता। इस का उत्तर सूत्रकारदेते हैं:—

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेय सिद्धेः ॥ ८ ॥ (उत्तरपक्ष)

अभाव का प्रमेय सिद्ध है, इस लिये यह कहना कि अप्रमेय होने के कारण अभाव प्रमाण नहीं, ठीक नहीं है। (प्रश्न) अभाव का प्रमेय क्या है? (उत्तर) किसी वस्तु का लक्षण करने से उस लक्षण से व्यतिरिक्त पदार्थों का ज्ञान अभाव प्रमाण का प्रमेय है। लाल, पीले, और नीले फूल मौजूद हैं, एक मनुष्य कहता है कि जो फूल नीले नहीं हैं, उन को ले आओ, तो वह झट लाल और पीले फूल ले आता है। अब इन फूलों के लाने में उस को क्या लक्षण मिला? केवल नीलेपन का न होना और यही उनको दूसरों से अलग करने का कारण है। इस लिये नीलेपन के अभाव से जिन पदार्थों का ज्ञान हुवा, वे ही उस अभाव का प्रमेय सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह निकला कि जिस का लक्षण किया जावे, उस से व्यतिरिक्त या विरुद्ध पदार्थ अभाव प्रमाण से जाने जाते हैं। इसलिये अभाव को प्रमाण मानना चाहिये। और भी हेतु देते हैं:—

असत्यर्थे नाऽभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः॥९॥ उ०

जब कोई वस्तु पहले विद्यमान हो और पीछे न रहे तो उसका अभाव कहा जाता है, क्योंकि जिसका भाव पहले न हो, उसका अभाव हो ही नहीं सकता, वस्तुतः भाव का नाश ही अभाव है। (प्रश्न) क्या जो वस्तु विद्यमान होकर नाश न हो जावे, उस का अभाव नहीं माना जायगा? (उत्तर) वस्तु के होने पर उस के नाम और लक्षण होते हैं, जिसका कोई नाम या लक्षण ही नहीं, ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती, उसका भाव और अभाव दोनों नहीं हो सकते। (प्रश्न) ख़रगोश के सींग और आकाश के फूल कभी नहीं हुवे और न ही उन का नाश हुवा है, किन्तु सब लोग उन का अभाव मानते हैं। (उत्तर) सींग और फूल दोनों पदार्थ संसार में विद्यमान हैं, इन के नाम और लक्षण भी विद्यमान हैं, उनको ख़रगोश और आकाशके साथ मिलाकर वहां उनका अभाव सिद्ध करते हैं। यदि फूल और सींग कोई वस्तु न होते, तो उनका भाव और अभाव दोनों नहीं हो सकते थे। जो लक्षण सींग के हैं, वे अन्यत्र देखे जाते हैं, ख़रगोश के शिर पर न होने से वहां उनका अभाव सिद्ध किया जाता है। इस पर वादी कहता है।

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥ १० ॥ (पूर्वपक्ष)

जिन पदार्थों का लक्षण नहीं कहा गया उनमें लक्षण का अभाव मानना ठीक नहीं। क्योंकि वे लक्षण अन्य पदार्थों में विद्यमान हैं, जो पदार्थ लक्षण लक्षित हैं, उनका अलक्षितोंमें अभाव मानना ठीक नहीं। क्योंकि जिस पदार्थ की सत्ता और स्वरूप का ठीक ज्ञान होता है, वही लक्षण एक को दूसरे से पृथक् करता है। अभाव का कोई स्वरूप ही नहीं, इसलिये वह किसी को किसी से अलग कर ही नहीं सकता। इसका उत्तर :—

न लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ॥११॥ (उत्तरपक्ष)

हम यह नहीं कहते कि जो लक्षण होते हैं,उन का अभाव होता है, किन्तु हम यह कहते हैं कि कुछ लक्षण पाये जाते हैं और कुछ नहीं पाये जाते। परीक्षक जिन लक्षणों के भाव को अनुभव नहीं करता, उन्हीं लक्षणों के अभाव से उस वस्तु का ज्ञान होता है। जैसे किसी ने कहा कि इस फूलों के ढेर में से लाल और पीले छोड़ कर दूसरे फूल लाओ। अब फल के लक्षण तो सब फूलों में पाये जाते हैं, किन्तु लाल और पीला होना किसी में है और किसी में नहीं, अब जिन फूलों में रक्तता और पीतता का अभाव होगा, उन को वह मनुष्य ले जायगा। केवल लाल और पीले न होने से ही उन फूलों का ज्ञान हुवा है, अन्यथा और कोई प्रमाण उन फूलों का ज्ञान कराने वालो नहीं था। (प्रश्न) अभाव कितने प्रकारका है ? सूत्रकार इसका उत्तर देते हैं: —

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ १२ ॥ (उत्तरपक्ष)

(उत्तर) अभाव दो प्रकार का है (१) किसी वस्तु की उत्पत्ति से पहले उसका अभाव होता है, इस को प्रागभाव कहते हैं (२) किसी वस्तु के नाश हो जाने पर उस का अभाव हो जाता है इसी को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। जहां किसी पदार्थ में लक्षण के अभाव से ज्ञान होता है. वह प्रागभाव है, प्रध्वंसाभाव नहीं। (प्रश्न) क्या तुम अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव को नहीं मानते ? (उत्तर) अन्योन्याभाव तो इन्हीं दोनों में आजाता है, अत्यन्ताभाव की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभाव किसी पदार्थ का हो नहीं सकता, कारण यह कि पदार्थ के विद्यमान होने से उसके लक्षण और नाम होते हैं, अब जिस वस्तु का अत्यन्ताभाव मानते हो,

उसके नाम और लक्षण नहीं हो सकते और जब नाम और लक्षण ही नहीं हैं तो अभाव किस का कहा जायगा ? इस लिये दो ही प्रकार का अभाव मानना ठीक है। अब शब्द की विशेष परीक्षा आरम्भ करते हैं। शब्द नित्य है वा अनित्य ?, यह प्रश्न करते हैं:—

विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः ॥१३॥ पू०

शब्द के विषय में विद्वानों के भिन्न २ मत हैं, कोई तो यह मानते हैं कि शब्द आकाश का गुण, व्यापक और नित्य है, अनित्य क्रिया से शब्द का केवल आविर्भाव होता है, शब्द उत्पन्न नहीं होता। कोई यह कहते हैं कि जड़ आकाश का गुण जो शब्द है वह पृथिवी के गुण गन्ध आदि की तरह अनित्य है और कई ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान की तरह शब्द उत्पत्ति और विनाश धर्म वाला है, इन भिन्न २ मतों के श्रवण करने से यह सन्देह होता है कि शब्द नित्य है वा अनित्य ? अगले सूत्र में सूत्रकार उस का अनित्य होना सिद्ध करते हैं।

आदिमत्वादैन्द्रियकत्वादकृतकवदुपचाराच्च॥१४॥ उ०

जब कि शब्द की कारण से उत्पत्ति है और वह इन्द्रियों से ग्रहण कियाजाता है और उच्चारण से पहले नहीं होता, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द अनित्य है। संसार में जो पदार्थ कारण से उत्पन्न होते हैं वे सब अनित्य हैं और जो इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं वे भी अनित्य हैं, क्योंकि संयुक्त द्रव्य ही इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं, और शब्द विना वायु, पृथिवी और आकाश के उत्पन्न नहीं होसकता, जिससे उसका संयुक्त होना सिद्ध है। संयुक्त होने से शब्द अनित्य है। (प्रश्न) शब्द के संयुक्त होने का क्या कारण है ? (उत्तर) यदि होठों को बन्द करके बोलने की चेष्टा की जाये तो शब्द बिलकुल न होगा, क्योंकि वायु के आने और जाने का रास्ता नहीं रहा, जब वायु को रोका जाता है, तब शब्द उत्पन्न होता है। (प्रश्न) शब्द को संयुक्त और विनाश धर्म वाला कहना ठीक नहीं, क्योंकि शब्द गुण है और गुण कभी संयुक्त नहीं होता। (उत्तर) गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से यदि गुणी अनित्य है तो उसका गुण भी अवश्य अनित्य होगा। पृथिवी और जल के अनित्य और संयुक्त होने से, इन के गुण गन्ध और रस कभी नित्य वा असंयुक्त नहीं हो सकते। जब शब्द वायु के संयोग से उच्चारित होता है, तब वह नित्य कैसे हो सकता है।

अतएव उत्पत्ति धर्मवान् इन्द्रिय जन्य और कृतक होने से शब्द अनित्य है। पुनः वादी शंका करता है।

न घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च १५ पू०

शब्द के अनित्यत्व में जो आदिमान् होने का हेतु दिया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि घटादि का अभाव भी आदिमान् है और नित्य है, जब घट का नाश होता है। तब उसका अभाव उत्पन्न होताहै, घटाभाव की उत्पत्ति का कारण घटका नाश है, इस प्रकार उत्पन्न होने पर भी घटाभाव का फिर कभी नाश नहीं होता। इस प्रकार आदिमान् घटाभाव के नित्य होने से कारणवान् शब्द का भी नित्य होना अनुमान से सिद्ध होता है। दूसरे जो इन्द्रियजन्य होने के कारण शब्द को अनित्य कहा गया है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि घटत्व और पटत्व आदि जातियों का ग्रहण भी इन्द्रियों से होता है, किंतु जाति नित्य है, क्योंकि वह सब में रहती है, जब इन्द्रियजन्य होने से जाति अनित्य नहीं होसकती तब फिर इसी कारण से शब्द अनित्य क्यों कर होसकता है। तीसरा यह हेतु कि अनित्यवत् प्रतीत होने से शब्द अनित्य है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार वस्त्रादि अनित्य पदार्थों के भाग होते हैं, उसी प्रकार नित्य आकाश के भी विभाग होसकते हैं, जैसे घटाकाश और मठाकाश आदि। इस प्रकार विभक्त होने से नित्य आकाश अनित्य नहीं हो जाता। तथा नित्य आत्मा कभी अपने को सुखी और कभी दुःखी मानता है, इससे आत्माका अनित्य सिद्ध नहीं होता। जब किनित्य आकाश और आत्मामें ये व्यवहार होते हैं तो शब्द में ऐसे ही व्यवहार होनेसे वह अनित्य क्योंकर होसकता है? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं :—

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः १६ उत्तरपक्ष

विभाग दो प्रकार का है एक वास्तविक दूसरा काल्पनिक आकाश में जो घटाकाश और मठाकाश के विभाग किये जाते हैं, वे काल्पनिक हैं, न कि वास्तविक, क्योंकि वे घट और मठ के सम्बन्ध से कल्पित किये जाते हैं, इसी प्रकार आत्मा में सुख और दुःख भी मनके सम्बन्ध से माने जाते हैं, इसलिये वे मनके धर्म हैं, न कि आत्मा के। अभाव का नित्य होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यदि आदिमान् होने पर भी अभाव को नित्य माना जावे तो इसका यह

अर्थ होगा कि उसकी उत्पत्ति तो है, विनाश नहीं। यह असम्भव है, इसलिये अभाव नित्य नहीं होसकता।

अभाव के काल्पनिक नित्य होने में एक हेतु यह भी है कि घट की उत्पत्ति से पहले जो घट का अभाव था, वह घट के उत्पन्न होजाने से नाश होजायगा और घट के नाश से जो अभाव उत्पन्न होगा, वह कारणवान् न होगा, क्योंकि कारण भाव का होता है, अभाव का नहीं। अभाव तीनों कालों में रहनेवाला और नित्य है। घट बनने से पहले भी घट का अभाव था, घट बनने पर भी घटसे अतिरिक्त अन्य पदार्थों में घट का अभाव है, घट के नाश होने पर भी घटका अभाव होगा। इसलिये घटके नाश होनेपर घटके अभाव को कारणवान् बतलाना सरासर कल्पित है। शब्द के अनित्यत्व में और भी हेतु देते हैं।

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥१७॥ (उत्तरपक्ष)

वादी ने जो कहा था कि जाति का ज्ञान भी इन्द्रियोंसे होता है, परन्तु वह नित्य है, इसलिये इन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण शब्द भी अनित्य नहीं होसकता, इसके उत्तरमें प्रतिवादी कहता है कि हमारा यह आशय नहीं है कि केवल इन्द्रियग्राह्य होनेसे ही शब्द अनित्य है किन्तु वायु के धक्के और मुखादि अवयव की चेष्टा से शब्द सन्तति की उत्पत्ति होती है। इससे भी उसके अनित्य होने का अनुमान किया जाता है। तीसरे हेतु का खण्डन :—

कारणद्रव्यस्य प्रदेश शब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचार इति ॥ १८ ॥ (उत्तरपक्ष)

वादी ने जो कहा था कि नित्यों में भी अनित्य का सा उपचार होता है, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि कारण द्रव्य का प्रदेश कहने से नित्यों में भी व्यभिचार नहीं होता। जैसे कार्यद्रव्यों के लिये प्रदेश का शब्द कहा जाता है, ऐसा कारणद्रव्यके लिये नहीं। कार्यद्रव्य के परिच्छिन्न होनेसे उसके साथ प्रदेशका विशेष सम्बन्ध समझा जाता है और कारण द्रव्यके साथ उसके परिच्छिन्न होनेसे प्रदेश का सामान्य सम्बन्ध होता है, इसलिये व्यभिचार दोष नहीं। पुनः शब्द का अनित्यत्व साधन करते हैं :—

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥१९॥ उ०

उच्चारण से पहले शब्द नहीं होता, यदि होता तो उसकी उपलब्धि होती। क्योंकि जब तक किसी पदार्थ की उपलब्धि न हो,

तब तक उसकी सत्ता स्वीकार नहीं की जासकती। यदि कोई कहे कि उस समय शब्द छिपा हुआ होता है और वह उच्चारण से प्रकट होजाता है, तो कोई आवरण भी नहीं दीखता जिसने शब्दको छिपाया हुवा हो। इसलिये यही मानना ठीक है कि उच्चारण ही उसकी उत्पत्ति है और उच्चारण से पहले उसकी कोई सत्ता नहीं है। (प्रश्न) उच्चारण किसको कहते हैं? (उत्तर) जब आवश्यकता होती है तो आत्मा हृदयस्थ वायु को प्रेरणा करता है जिससे कण्ठ तालु आदि स्थानों पर एक प्रकार का आघात होता है, जैसे वीणातन्तुओं पर उंगली का आघात होने से भिन्न २ स्वर निकलते हैं, इसी प्रकार कण्ठादि स्थानों पर वायु का आघात होने से भिन्न भिन्न शब्द निकलते हैं। (प्रश्न) उच्चारण से शब्द की केवल अभिव्यक्ति (प्रकाश) होती है, न कि उत्पत्ति। (उत्तर) यदि बोलने से शब्द की उत्पत्ति न मानोगे, तो शब्द हुवा था, हो रहा है और होगा, यह कहना नहीं बन सकता, क्योंकि ऐसा अनित्य कार्य के वास्ते ही कहा जा सकता है। नित्य कारण के लिये नहीं। (प्रश्न) यह कहना ठीक नहीं कि शब्द संयोग से प्रकट होता है। क्योंकि संयोग के पश्चात् भी शब्द बना रहता है। जैसे कहने वाले के मुहसे निकल कर सुनने वाले के कान में पहुंचने तक शब्द बने रहते हैं। इससे शब्द का कारण संयोग को मानना ठीक नहीं। (उत्तर) संयोग शब्द का उपादान कारण नहीं कि संयोग के पश्चात् शब्द न रह सके किन्तु संयोग शब्द का निमित्त कारण है और निमित्त कारण के न रहने पर भी कार्य रह सकता है। जैसे दण्ड और चक्र के टूट जाने पर भी घड़ा बना रहसकताहै। वादी पुनः आक्षेप करता है:—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ २० ॥ (पूर्वपक्ष)

यह जो कहागया है कि शब्दावरक पदार्थ के प्रतीत न होने से शब्द का छिप जाना नहीं मान सकते, किन्तु शब्द का नाश मान सकते हैं, इसका उत्तर यह है कि आवरक पदार्थ के प्रत्यक्ष न होने से यह मान लेना कि आवरक वस्तु नहीं है, ठीक नहीं है। किन्तु जब शब्द होकर नष्ट होगया तो उसकी दोनों अवस्थायें अनुमित होसकती हैं अर्थात् शब्द का छिप जाना या नाश होजाना। जो कि आवरण का अभाव भी प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है इस लिये आवरण का होना सिद्ध है। इस पर और भी हेतु देते हैं:—

अनुपलम्भादनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ २१ ॥ (पूर्वपक्ष)

आवरण के प्रत्यक्ष न होने से जो अनुपलब्धि अर्थात् ज्ञान का न होना माना जावे और अनुपलब्धि का अभाव न माना जावे तो आवरण के न होनेपर आवरण का भाव मानना चाहिये, जिससे शब्द छिप जाता है और जब बोलनेवाला बोलनेकी चेष्टा करता है तो वह आवरण दूर हो जाता है, तब शब्द प्रकट होता है, वास्तव में शब्द सदा विद्यमान रहता है। (प्रश्न) अनुपलब्धि किसे कहते हैं ? (उत्तर) किसी वस्तु के प्रत्यक्ष न होने को। (प्रश्न) अनुपलब्धि का अभाव क्या है ? (उत्तर) उसका प्रत्यक्ष होना। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं :—

अनुपलम्भात्मकत्वात्तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ २२ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिस पदार्थ की उपलब्धि होती है उसी की सत्ता मानी जाती है और जिसकी किसी प्रकार उपलब्धि नहीं हो सके उसका अभाव माना जाता है, यह सिद्धान्त है। ज्ञान के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं, इस लिये उस का भाव नहीं हो सकता। अतः आवरण के होने का ज्ञान होना चाहिये, जब तक आवरण के भाव का ज्ञान न हो जावे, तब तक आवरण की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती और यह जो हेतु दिया गया है कि अनुपलब्धि अर्थात् किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान न होने से उसकी सत्ता का होना सिद्ध है, यह भ्रान्तियुक्त है, क्योंकि अभाव का हेतु अभाव नहीं हो सकता। (प्रश्न) इस हेतु में त्रुटि क्या है ? (उत्तर) किसी पदार्थ के भाव अर्थात् सत्ता को सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती इस लिये आवरण की सत्ता के लिये प्रमाण की आवश्यकता है। भाव के लिये प्रमाण न होने से अभाव स्वमेव सिद्ध हो जाता है। अब शब्द के नित्य होने में वादी और हेतु देता है :—

अस्पर्शत्वात् ॥ २३ ॥ (पूर्वपक्ष)

जितने पदार्थ संयुक्त हैं उन सबका स्पर्श होता है, असंयुक्त का स्पर्श नहीं होता। जोकि शब्द का स्पर्श नहीं होता, इसलिये शब्द संयुक्त नहीं, किन्तु सूक्ष्म है और सूक्ष्म वस्तु नित्य होती है, इस लिये शब्द नित्य है। (प्रश्न) स्पर्शरहित वस्तुओं के सूक्ष्म होने का क्या प्रमाण है ? (उत्तर) पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चारों

भूत संयुक्त हैं, पृथिवी में पाँचों भूत मिले रहते हैं, इसलिये उसका गुण गन्ध अनित्य है, जल में चार, अग्नि में तीन और वायु में दो तत्त्व मिले रहते हैं, इस लिये इनके गुण रस, दाह और स्पर्श भी अनित्य हैं। केवल आकाश असंयुक्त और विभु है, इस लिये उसका गुण शब्द भी असंयुक्त और नित्य है, वायु तक जिसका गुण स्पर्श है पदार्थ अनित्य है, किन्तु आकाश, आत्मा और काल इनका स्पर्श नहीं होता इस लिये यह नित्य हैं। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं:—

न कर्मानित्यत्वात् ॥२४॥ (उत्तरपक्ष)

शब्द को केवल स्पर्शरहित होने से नित्य मानना ठीक नहीं क्यों कि कर्म भी स्पर्शरहित है, किन्तु उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनित्य है, इसी प्रकार स्पर्शरहित शब्द भी उत्पत्तिमान् होने से अनित्य है। अब इस के विरुद्ध स्पर्शवान् का नित्य होना सिद्ध करते हैं:—

नाणुनित्यत्वात् ॥ २५ ॥ (उत्तरपक्ष)

यह हेतु कि स्पर्शवान् अनित्य और स्पर्शरहित नित्य होता है, व्यभिचारी है, स्पर्शरहित कर्म का अनित्य होना दिखला चुके हैं, अब स्पर्शवान् अणु का नित्य होना दिखलाते हैं। परमाणु स्पर्शवान् है, परन्तु वह नित्य है (प्रश्न) परमाणु का स्पर्शवान् होना परमाणु के अप्रत्यक्ष होने से सिद्ध नहीं होता। (उत्तर) जो गुण कारण में होते हैं, वे ही कार्य्य में भी आते हैं, इस लिये पृथिवी, जल, अग्नि और वायु जिन का स्पर्श हो सकता है, उनके परमाणु भी स्पर्शरहित नहीं हो सकते। अब वादी शब्द के नित्य होने में और हेतु देता है।

सम्प्रदानात् ॥ २६ ॥ (पूर्वपक्ष)

सम्प्रदान का अर्थ देना है, किन्तु यहाँ पर देने का तात्पर्य्य शब्द के द्वारा गुरु का शिष्य को ज्ञान देना है। दान में वह वस्तु दी जाती है जो देने से पहले विद्यमान हो। गुरु जब शिष्य को विद्यादान देता है, तब विद्या की सम्पत्ति पहले से उसके पास मौजूद होती है और वह सम्पत्ति शब्दमय है। विद्यादान से पहले शब्द गुरु के ज्ञान में मौजूद थे, और विद्यादान के पश्चात् वे शिष्य के ज्ञान में उपस्थित हो जाते हैं। इस युक्ति से शब्द का उच्चारण से पूर्व और पश्चात् भी होना सिद्ध है, अतः उसको उत्पत्ति धर्मवान् नहीं कहा जा सकता और जब शब्द अनुत्पत्तिधर्मवान् है तो उस के नित्य होने में सन्देह क्या है ? इसका उत्तरः—

तदन्तरालाऽनुपलब्धेरहेतुः ॥ २७ ॥ (उत्तरपक्ष)

जब कि पढ़ाने से पहले और उसके पश्चात् भी शब्द की उपलब्धि नहीं होती, तब इस युक्ति से शब्द नित्य क्यों कर सिद्ध हो सकेगा। इसका तात्पर्य यह है कि गुरु के बोलते समय तो शब्दका प्रत्यक्ष होता है, उस से पहले और पीछे नहीं होता। इस लिये शब्द गुरु के बोलने से उत्पन्न होता है, यदि शब्द नित्य होता तो पढ़ाने से पहले और पीछे भी मौजूद होता। अब वादी पुनः आक्षेप करताहैः—

अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २८ ॥ (पूर्वपक्ष)

कहने से पहले और पीछे भी शब्दों की उपलब्धि पाई जाती है, उसके प्रत्यक्ष न होने से उस की सत्ता का निषेध नहीं हो सकता। क्योंकि गुरु के हृदय में जो शब्द मौजूद हैं, उन्हीं में से जिन शब्दों की आवश्यकता प्रतीत होती है, उनका प्रवचन कियाजाता है, यदि उन शब्दों का गुरु के हृदय में विद्यमान होना न माना जाय तो गुरु और शिष्य में अन्तर ही क्या रहा? क्योंकि दोनों को उन शब्दों का ज्ञान नहीं, इससे पढ़ना पढ़ाना दोनों नहीं होसकते। क्योंकि यदि पहले से शब्दों का होना न माना जाय तो गुरु में अज्ञान सिद्ध होगा। यदि पश्चात् उनका अभाव माना जावे तो शिष्य को विद्या की प्राप्ति न हो सकेगी, क्योंकि ज्ञान के अधार शब्द तो नष्ट होगये, फिर शिष्य को विद्या की प्राप्ति क्योंकर हुई। इसलिये जिस प्रकार प्रकाश के अभाव में पदार्थों के विद्यमान होनेपर भी उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, इसी प्रकार शब्द का भी कण्ठ तालु आदि के प्रयत्न न होने से (जो उसके प्रकट करने वाले हैं) प्रकाश नहीं होता। इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं।

उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥२९॥ उ०

जोकि शब्द की नित्य और अनित्य दोनों अवस्थाओं में पढ़ना और पढ़ाना हो सकता है। विद्या का दान उपस्थित वस्तु के दान के समान नहीं, किन्तु गुरु शिष्य को अपने उन प्रयत्न विशेषणों से जो उसे बोलने में करने पड़ते हैं शिक्षा देता है। इसलिये पढ़ाने से शब्द का नित्य होना सिद्ध नहीं हो सकता। इस पर वादी फिर आक्षेप करता है :—

अभ्यासात् ॥ ३० ॥ (पूर्वपक्ष)

एक शब्द बार बार कहाजाता है, इस से भी शब्द का नित्य।

होना सिद्ध होता है, जैसे कोई मनुष्य कहता है कि मैंने अमुक वस्तु को पांचवार देखा, यदि वह वस्तु अनित्य होती तो एकवार देखने के पश्चात् फिर उसका देखना सम्भव न होता। इसी तरह शब्द को अनेक वार बोलते देखकर यह अनुमान होता है कि शब्द भी नित्य है। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं।

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ ३१ ॥ (उत्तरपक्ष)

वार वार उच्चारण करने से शब्द नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि अनित्य वस्तुओं का भी वार वार उच्चारण देखा जाता है। जैसे दो वार हवन करता है, तीनवार भोजन करता है, इत्यादि जब वार २ करने से हवन और भोजन नित्य नहीं हो सकते, तब वार २ के उच्चारणसे शब्द नित्य क्योंकर हो सकता है ? इस लिये व्यभिचार होनेसे यह हेतु ठीकनहीं। अब वादी फिर शंकाकरताहै:—

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताभावः॥३२॥पूर्व०

यह कहना कि अन्य होनेपर भी वार वार होना कहा जाता है, ठीक नहीं, क्योंकि अन्य होने की दशा में उन में भेद होना चाहिये, जब भेद मानोगे, तो फिर उसी वस्तु का पुनः होना नहीं कहा जा सकता, किन्तु दूसरी वस्तु का भाव मानना पड़ेगा। इसलिये भेद के होने पर एक शब्द को कई वार कहना बन नहीं सकता। अतः घट शब्द को जितनी वार कहा जावेगा उस में एकता का ही ज्ञान होगा, भिन्नता का नहीं। इसलिये एकही शब्द वार वार कहाजाने से नित्य है। इसका उत्तर :—

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ३३॥ उ०

जो तुम अन्य से अन्य कहकर फिर उसका खण्डन करते हो, यह ठीक नहीं। क्योंकि जो अन्य नहो, वह अनन्य [एक] कहलाता है। जब अन्य कोई वस्तु ही नहीं है, तब उसका खण्डन या अभाव हो ही नहीं सकता। इस लिये विना अन्य के एक सिद्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य और एक ये दोनों परस्पर सापेक्ष्य हैं। जब अन्य के अभाव में तुम्हारी अनन्यता सिद्ध ही नहीं होसकती, तब अन्यता का अभाव सिद्ध करके कैसे शब्द को नित्य सिद्ध कर सकोगे। अब वादी शब्द की नित्यता में और हेतु देता है:—

विनाशकारणानुपलब्धेः ॥ ३४ ॥ (पूर्वपक्ष)

जितने अनित्य पदार्थ हैं, उनके विनाशकारण की उपलब्धि

होती है, जैसे संयोग से घड़ा बनता है और वियोग से टूट जाता है तो संयोगकारण का विरोधी वियोग कारण है। अब यदि शब्द की उत्पत्ति मानी जावे तो उसके विनाश का कारण भी होना चाहिये, परन्तु नाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, इस लिये शब्द नित्य है। आगे इसका उत्तर देते हैं:-

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः॥३५॥ उ०

शब्द न सुन पड़ने के कारण मौजूद न होने से सर्वदा श्रवण होना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता, फिर शब्द के विनाश का कारण मालूम न होने से वह नित्य क्यों कर हो सकेगा। इस पर एक हेतु और भी देते हैं:-

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्वादनुपदेशः॥ ३६॥

शब्द के विनाश का कारण अनुमान से प्रतीत होता है, इसलिये शब्द के नित्य होने में विनाश कारण की अनुपलब्धि को हेतु ठहराना ठीक नहीं। जब शब्द की उत्पत्ति का कारण है, तब अनुमान से उसके विनाश का कारण स्वयं सिद्ध होता है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश अवश्य होगा। (प्रश्न) शब्द के नाश का कारण क्या है? (उत्तर) जो शब्द उत्पत्तिधर्म वाला है, उस की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वही शब्द को उत्पन्न करके फिर उसके विनाश का कारण होता है, जब शब्दोच्चारण की क्रिया समाप्त हो जाती है तब शब्द नष्ट हो जाता है। (प्रश्न) जो प्रयत्न शब्द की उत्पत्ति का कारण है वही उसके विनाश का कारण क्यों कर हो सकता है? (उत्तर) जैसे संयोग वियोग का कारण है, अर्थात् वियोग होने के लिये संयोग होताहै। इसी प्रकार नाश होने के लिये पदार्थ की उत्पत्ति होती है, जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश अवश्य होगा। जैसे कि देहादि, जब शब्द की उत्पत्ति वादी को भी सम्मत है तब उसके नाशवान और अनित्य होने में सन्देह ही क्या है?

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावेनानुपलब्धिः ३७ उ०

जब घण्टे में चोट लगने से शब्द होता है तब उस घण्टे को हाथ से पकड़ लेने से वह आवाज़ बन्द हो जाती है, इस से भी शब्द का अनित्य होना स्पष्ट प्रतीत होता है। जिस प्रकार दण्ड के अघात से शब्द उत्पन्न हुवा था, उसी प्रकार हाथ के स्पर्श से वह नष्ट होगया। इस पर पुनः विवेचना की जाती है:—

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ३८

(उत्तरपक्ष)

यदि तुम ऐसा मानते हो कि शब्द के नाश का कारण नहीं है तो इस से शब्द का नित्यत्व पाया जाता है। यदि शब्द को नित्य माना जावे तो निरन्तर कानों से उस का श्रवण होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता, जिस से स्पष्ट अवगत होता है कि प्रयत्न विशेष से शब्द उत्पन्न होता है और उस प्रयत्न के समाप्त होजाने पर नष्ट हो जाता है, अतः शब्द अनित्य है। वादी पुनः शङ्का करता है:—

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ ३९ ॥ (पूर्वपक्ष)

शब्द के स्पर्शरहित होने से घण्टे को हाथ से पकड़ कर शब्द का नाश नहीं हो सकता। शब्द आकाश का गुण है और वह सदा आकाश में रहता है। घण्टे में दण्ड के आघात से उस की उत्पत्ति नहीं होती और न हाथ के स्पर्श से उस का नाश होता है। किन्तु इन क्रियाओं से शब्द का आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता है। इस का समाधान करते हैं:—

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ४० ॥ (उत्तरपक्ष)

कुछ यही एक बात नहीं कि घंटा बजा कर छू देने से शब्द रुक जाता हो, किन्तु एक ही घण्टे में या कुछ बाजे आदि में अनेक विभागों के शब्द को हम सुनते हैं इस से सिद्ध होता है कि आकाश के अतिरिक्त अन्य द्रव्य भी शब्द भेद का कारण है, इस लिये यह शब्द विभाग भी शब्द के अनित्य होने का कारण है। (प्रश्न) शब्द कै प्रकार का है? (उत्तर) दो प्रकार का। एक ध्वन्यात्मक दूसरा वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द की परीक्षा हो चुकी, अब वर्णात्मक शब्द की परीक्षा प्रारम्भ करते हैं। संशय कारण बतलाते हैं:—

विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥ ४१ ॥ (पूर्वपक्ष)

वर्णात्मक शब्द में विकार और आदेश होते हैं, इस लिये संशय उत्पन्न होता है। (प्रश्न) विकार किसे कहते हैं? (उत्तर) जैसे व्याकरण में बतलाया गया है कि 'इ' को 'य' हो जावे तो अब यकार इकार का विकार हुवा। विकार का अर्थ बिगड़ कर अन्य रूप को धारण करलेता है, जैसे दूध से दही हो जाता है। (प्रश्न) आदेश किसे कहते हैं? (उत्तर) आदेश वह है, जो स्थानी के स्थान में होता है, जैसे 'इ' के स्थान में 'य' होता है। कोई इसे

विकार कहते हैं और कोई आदेश। (प्रश्न) यदि यकार को इकार का विकार माना जाये, तो इस में क्या दोष होगा? (उत्तर) यदि विकार मानोगे तो इकार को यकार का कारण मानना पड़ेगा, परन्तु 'इ' 'य' का कारण नहीं है। दूसरे जब 'इ' का 'य' बनगया तो फिर 'इ' न रहनी चाहिये, जैसे दूध का जब दही बन जाता तो दूध का नाश हो जाता है परन्तु ऐसा नहीं होता। (प्रश्न) दो कपालों के संयोग से घटरूप कार्य बन जाता है वहां कारणरूप ज्ञान का नाश नहीं होता। इस से विकार मानने में कोई दोष नहीं। (उत्तर) कपाल और घट में कार्यकारणभाव है, किन्तु इकार और यकार में यह सम्बन्ध नहीं, इसलिये विकार कहना अयुक्त है, उस को आदेश ही कहना चाहिये। (प्रश्न) यदि इकार और यकार में कार्यकारण भाव सम्बन्ध माना जावे तो क्या दोष है? (उत्तर) जब इकार में कुछ अधिक होकर यकार बन जावे, तब उसका कार्य कारण भाव सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु न तो इकार में से कुछ कम होकर यकार बनता है और नहीं कुछ मिलकर बना है। इस लिये कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। जिस तरह गाड़ी में बैलकी जगह घोड़ा लगा देने से घोड़ा बैल का स्थानापन्न होता है, इसी तरह इकार की जगह यकार बोलने से उस का आदेश होगा न कि विकार। जोकि अक्षर सब नित्य हैं इस लिये कोई अक्षर का विकार नहीं हो सकता। इस पर एक हेतु और देते हैं।

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ ४२ ॥ (उत्तरपक्ष)

जब किसी कार्य की प्रकृति अर्थात् उपादान कारण बढ़जाता है तो वह कार्य भी बढ़जाता है। जैसे एक सेर दूध से जितना दही बन सकता है, पाँच सेर दूध से उस से पांच गुना बनजायेगा। या पांच सेर मट्टी से जितना घड़ा बनता है, बीस सेर मिट्टी से उस से चौगुना बनेगा। जो कि वर्णों में प्रकृति के बढ़ने से विकार नहीं बढ़ता। जैसे एक इकार से यकार बनता है, वैसे दो ईकार से दुगना यकार नहीं होता, इस से सिद्ध है कि वर्णों में विकार नहीं होता, इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं:—

न्यूनसमाधिकोपपत्तेर्विकाराणामहेतुः ॥ ४३ ॥ (पूर्वपक्ष)

यदि प्रकृति के बराबर ही उसके विकारके होने का नियम होता तब तो कह सकते थे कि वर्णों में विकार नहीं। परन्तु विकार कहीं प्रकृति से कम, कहीं बराबर और कहीं अधिक होता है। जैसे रूई

से जो सूत बनता है, वह रूई से कम होता है और सुवर्ण से जो आभूषण बनते हैं वे सोने के बराबर होते हैं और बीज से जो वृक्ष बनता है, वह बीज से बहुत बड़ा होता है, इस वास्ते यह हेतु कि प्रकृति के बढ़ने से विकार भी बढ़ता है, ठीक नहीं इसका उत्तर :—

नाऽतुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥४४॥ (उत्तरपक्ष)

प्रकृति से बड़ा छोटा और बराबर का विकार दिखला कर जो वर्णों में विकार न होने का खण्डन किया गया है, वह ठीक नहीं। यद्यपि भिन्न २ प्रकृतियों से भिन्न २ प्रकार के विकार होते हैं, परंतु एक प्रकार की प्रकृति से भिन्न प्रकार के विकार नहीं होते। वट से वट का ही वृक्ष उत्पन्न होता है, आम का नहीं। बस यदि 'इ' का विकार 'य्' होता तो इन में सजातीयता होती, ऐसा नहीं है, इस लिये विकार मानना ठीक नहीं। इस पर पुनः आक्षेप करते हैं :—

द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ॥४५॥ (पूर्वपक्ष)

आक्षेप की पुष्टि करते हैं, जैसे द्रव्यों से विषमविकार होजाते हैं, वैसे ही वर्णों (अक्षरों) से भी विषम विकार वा विकार विकल्प होजाते हैं, अर्थात् जैसे मीठे दूध से खट्टा दही हो जाता है, ऐसे ही ह्रस्व व दीर्घ 'इ' वर्ण से भी विषम यकार हो जाता है। अब इस का समाधान करते हैं :—

न विकारधर्माऽनुपपत्तेः ॥ ४६ ॥ (उत्तरपक्ष)

विकार द्रव्य में होता है, शब्द रूप वर्णों में विकार नहीं होता, क्योंकि शब्द गुण है, द्रव्य नहीं, जो किसी दूसरे गुण का सहारा होसके। इस लिये जो गुण विकार से उत्पन्न होते हैं, वे द्रव्य ही में होते हैं। उसका कारण यह है कि द्रव्य में से (जो परमाणुओं का सङ्घात होता है) कुछ अंश निकल कर और कुछ नये मिल कर एक पृथक् रूप धारण करलेते हैं, उसको विकार कहते हैं। परन्तु गुण में यह बात नहीं हो सकती, क्योंकि वह संयुक्त या परमाणुओं का सङ्घात नहीं। जब गुण में विकारधर्म हो ही नहीं सकता, तो शब्द में विकार किस प्रकार हो सकता है? अतः आदेश ही मानना ठीक है। इस पर एक और हेतु देते हैं :—

विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः ॥४७॥ (उत्तरपक्ष)

जो द्रव्य अपनी वास्तविक दशा से बिगड़ कर विकार होता है, वह फिर अपनी वास्तविक दशा में नहीं आ सकता, जैसे दूध से

दही मिल कर फिर दूध नहीं हो सकता, परन्तु शब्द में इस के विपरीत पाया जाता है। जैसे इकार को यकार हो जाता है, फिर यकार को इकार भी हो जाता है। इस लिये शब्द में विकार मानना ठीक नहीं। अब इस का खण्डन करते हैं :—

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ४८ ॥ (पूर्वपक्ष)

विकृत होकर द्रव्य फिर अपनी वास्तविक दशा में नहीं आता, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सुवर्ण के आभूषण बनकर फिर उन का सुवर्ण बनजाता है, इस लिये यह हेतु व्यभिचारी है ? अब इस का उत्तर देते हैं :—

तद्विकाराणां सुवर्णभावाऽव्यतिरेकात् ॥४९॥(उत्तरपक्ष)

सुवर्ण के आभूषण बनने से सुवर्ण से पृथक् कोई वस्तु नहीं होजाती। इसलिये यह दृष्टान्त ठीक नहीं। यदि कोई द्रव्य विगड़े और भिन्न धर्म वाला होकर अपनी वास्तविक दशा में आजावे, उस का दृष्टान्त ठीक हो सकता है क्योंकि जिस प्रकार सुवर्ण में सुवर्ण का धर्म रहता है, इस प्रकार इकार से यकार हो जाने पर यकार में इकार का धर्म नहीं रहता, अतः यह दृष्टान्त विषम है, अब इस पर आक्षेप करते हैं :—

वर्णत्वाऽव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः॥५०॥(पूर्व०)

जैसे सुवर्ण के विकार आभूषणादि में सुवर्णत्व धर्म रहता है ऐसे ही इकार से बने हुए यकार में वर्णत्व धर्म रहता है अर्थात् दोनों वर्ण ही कहलाते हैं। अतएव वर्ण में विकार ही मानना ठीक है इस से वर्ण में विकार होने का प्रतिषेध नहीं होसकता आगे इस का उत्तर देते हैं:—

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य॥ ५१॥(उत्तरपक्ष)

सामान्यवान्=सुवर्ण में किसी धर्म [गुण] का योग होसकता है, नकि सामान्य=सुवर्णत्व में कोई गुण रह सकता है,क्योंकि जब वह आप धर्म है तो फिर कुण्डलादि आभूषण उस के धर्म नहीं हो सकते, किन्तु सुवर्ण के ही सकते हैं। जोकि वर्णत्व धर्म सामान्य है जोकि इकार और यकार दोनों में रहता है, इस लिये उस के धर्म हो नहीं सकते, जिस से इकार यकार को बराबर मानकर यकार को इकार का विकार माना जावे, अतएव विकार मानना ठीक नहीं। इसी पक्ष की पुष्टि करते हैं:—

नित्यत्वे विकारादनित्यत्वे चानवस्थानात्॥५२॥(उ०प०)

यदि वर्ण को नित्य माना जावे तो उसमें विकार हो नहीं सकता, क्योंकि जिसमें विकार होता है, वह नित्य नहीं होसकता। यदि वर्ण को अनित्य मानो तो दूसरे वर्ण के कहने से पहले का नाश हो जाता है, तब वर्ण की अनवस्थिति से विकार होना असम्भव है। इस लिये दोनों दशाओं में वर्ण में विकार होना सिद्ध नहीं होसकता इस लिये कोई वर्ण किसी का विकार नहीं। अब इस का खण्डन करते हैं:-

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः॥ ५३ ॥ [पूर्वपक्ष]

नित्य पदार्थों के धर्म भिन्न २ हैं, कोई नित्य पदार्थ तो ऐसे हैं कि जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होते, जैसे आकाश, काल आदि और कोई इन्द्रियग्राह्य है, जैसे मनुष्यजाति, गोजाति इत्यादि। इसी प्रकार कोई नित्य विकारी हैं और कोई अविकारी। परन्तु वर्ण नित्य होनेपर विकारी है। यदि कहो कि विकार और अविकार ये दो विरुद्ध धर्म एक नित्य पदार्थ में नहीं रहसकते तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जिस प्रकार उन नित्य पदार्थों में इन्द्रियगोचर होना और अतीन्द्रिय होना ये दो विरुद्ध धर्म देखेजाते हैं तो उन में विकार और अविकार ये दोनों धर्म भी रह सकते हैं। परन्तु वादी का यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रियगोचर होना नित्य होने का विरोधी नहीं है, किन्तु विकारी होना नित्यता का विरोधी अवश्य है। और दो विरुद्ध गुण एक पदार्थ में रह नहीं सकते। अब जो अनित्य होने की दशा में विकार का होना सिद्ध किया है, उस का खण्डन करते हैं:—

अनवस्थायित्वे वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः॥५४॥(पू०)

वर्णों के अनवस्थान (न रहने) की दशा में भी उन का प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया जाता है, इसी प्रकार उन के विकारों का भी प्रत्यक्ष हो सकता है, अब विकार हेतुओं का खण्डन करते हैं:—

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाऽभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाऽप्रतिषेधः॥ ५५ ॥ (उत्तरपक्ष)

धर्मों के वैषम्य से जो वर्ण में विकाराऽभाव का खण्डन किया गया था, वह ठीक नहीं, क्योंकि कोई विकारी पदार्थ नित्य नहीं

देख पड़ता, किन्तु सब नित्य पदार्थ अविकारी होते हैं। यदि कहो कि कालान्तर में तो विकार की उपपत्ति हो सकती है, तब जैसे वर्ण के न रहने पर उस का ज्ञान माना जाता है, ऐसे ही कालान्तर में होने वाले विकार की प्रतिपत्ति माननी पड़ेगी यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इकार के उच्चारणकाल में यकार और यकार के श्रवणकाल में इकार नहीं रहता। इस लिये शब्द का विकार मानना ठीक नहीं। इसी की पुष्टि में एक हेतु और देते हैं:-

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ॥ ५६ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रकृति और उस का विकार नियत होते हैं, जैसे दूध प्रकृति है तो दही उस का विकार है, यह कभी नहीं हो सकता कि दही प्रकृति हो जावे और दूध उसका विकार, अर्थात् सदा दूध से दही बनेगा, दही से दूध कभी न बनेगा, परन्तु यदि वर्णों में विकार माना जावे तो उस में यह नियम नहीं है। क्योंकि यदि कहीं इकार से यकार बनता है तो कहीं यकार से भी इकार बनजाता है। इस लिये प्रकृति और विकार का नियम न होने से शब्दों में विकार मानना ठीक नहीं। फिर आक्षेप करते हैं:-

अनियमे नियमान्नानियमः ॥ ५७ ॥ (पूर्वपक्ष)

अनियम के नियत होने से अनियम न रहा, अर्थात् जब यह बात नियमित होगई कि वर्णविकारों में प्रकृति का नियम नहीं, तो यह भी तो एक प्रकार का नियम है, फिर अनियम क्यों कहते हो। इस का खण्डन करते हैं:—

नियमाऽनियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ॥ ५८ ॥ (उत्तरपक्ष)

नियम और अनियम दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं, यह कभी एक साथ नहीं रह सकते। इस लिये अनियम में नियम कहना बिलकुल असङ्गत है, अतएव वर्णविकार मानना ठीक नहीं। अब यदि वर्णों में विकार नहीं होता तो उन में जो परिवर्तन होते हैं, उन को क्या माना जावे ? इस पर आचार्य अपना मत प्रकाश करते हैं:-

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ ५९ ॥ (उत्तरपक्ष)

'तु' शब्द यहां पर पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है, अर्थात् वर्णों में चाहे वैसा विकार न हो, जैसा दूध का विकार दही होता है,

किन्तु गुणान्तर, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि लेश और श्लेष के होने से दूसरे प्रकार के विकार की (जिस को परिवर्त्तन कहना चाहिये) तो अवश्य प्रतिपत्ति होती है। गुणान्तर=उदात्त स्वर को अनुदात्त स्वर हो जाना। उपमर्द=' अस् ' को ' भू ' और ' ब्रु व ' को ' वच ' आदेश हो जाना। ह्रास=दीर्घका ह्रस्व हो जाना है। वृद्धि=ह्रस्व को दीर्घ हो जाना। लेश=कुछ अंश कम हो जाना, जैसे'अस' के 'अ' का लोप होजाना। श्लेष=कुछ बढ़जाना: जैसे टित्, कित्, मित् के आगम। ये ६ प्रकार के परिवर्त्तन हैं, जिन को वर्ण विकार के नाम से निर्देश किया जाता है, वस्तुतः एक वर्ण दूसरे वर्ण का स्थानापन्न है, न कि विकार। अब वर्ण से पद और पद से व्यक्ति आदि का विवेचन प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम पद का लक्षण कहते हैं:—

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ ६० ॥ (उत्तरपक्ष)

जब इन वर्णों के अन्त में विभक्ति लगाई जाती हैं, तब इन की पदसंज्ञा हो जाती है। (प्रश्न) विभक्ति के प्रकार की हैं। (उत्तर) दो प्रकार की (१) वे जो नाम=संज्ञा के साथ लगती हैं [२] वे जो आख्यात=क्रिया के साथ लगती हैं। जैसे ' देवदत्त पकाता है ' यहां ' देवदत्त ' संज्ञा है और " पकाता है " यह क्रिया है। पद से अर्थ का ज्ञान होता है इस लिये अब अर्थ का वर्णन करते हैं:-

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ॥ ६१ ॥ [पूर्वपक्ष]

प्रत्येक पदार्थ जो प्रत्यक्ष से ग्रहण किया जाता है, उन में तीन बातें एक साथ मालूम होती हैं (१) व्यक्ति (२) आकृति (३) जाति। अब यह सन्देह होता है कि ये तीनों एक ही हैं या भिन्न २ क्योंकि जब हम किसी गौ को देखते हैं तो उस के देह, रूप और जाति इन तीनों का ज्ञान होता है। अब प्रश्न यह होता है कि देह का नाम गौ है या आकार का या जाति का या तीनों का मिलकर। अब इस की विशेष व्याख्या करते हैं:-

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्युपचयवर्णसमासानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः ॥ ६२ ॥ (पूर्वपक्ष)

व्यक्ति ही एक पदार्थ है, क्योंकि शब्दादि का व्यवहार उसी में देखा जाता है। शब्द=गौ जाती है, समूह=गौओं का समूह,

त्याग=गौ का दान, ग्रहण=गौ का लेना, संख्या=१० गौवें, वृद्धि=गौ मोटी है, अपचय=गौ दुबली है, वर्ण=काली, या धौली गौ, समास=गौ बैठती है, अनुबन्ध=गौ का सुख इन सब व्यवहारों का उपचार (प्रयोग) व्यक्ति में ही देखा जाता है। इनका सम्बन्ध आकृति और जाति से नहीं है, अतः व्यक्ति ही पद का अर्थ है। अब इसपर वादी आक्षेप करता है:—

न तदनवस्थानात् ॥ ६३ ॥ (पूर्वपक्ष)

अनवस्था दोष के होने से व्यक्ति कोई पदार्थ नहीं। क्योंकि व्यक्ति विना आकृति और जाति के रह नहीं सकती। "गौ जाती है" इत्यादि प्रयोगों में आकृति और जातिसहित व्यक्ति का ग्रहण है। किसी विशेष व्यक्ति से तात्पर्य नहीं है। यदि आकृति और जातिको छोड़ दिया जावे तो फिर गोत्व ही नहीं रहता। इस लिये पदार्थ जाति है, न कि व्यक्ति। जब पदार्थ जाति है तो फिर व्यक्ति में उस का उपचार क्यों किया जाता है। इसका उत्तर देते हैं।

सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गङ्गा-शाटकान्नपुरुषेष्व-तद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ ६४ ॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे सहचरण में-यष्टि से यष्टि वाला ब्राह्मण, स्थान में मञ्च से मञ्चस्थ पुरुष, तादर्थ्य में-कट से तृणविशेष, वृत्त में-यम से राजा, मन में-सेरभर सत्तू से, उतने तोल के सत्तू, धारण में तुला चन्दन से तुला में धरा चन्दन, सामीप्य से-गङ्गातीर, योग में-काले वस्त्र से काले वस्त्र, साधन में-अन्न से प्राण और आधिपत्य-में कुल या गोत्र शब्द से उस कुल का मुख्य पुरुष ग्रहण किया जाताहै। ऐसेही लक्षण से जाति का व्यक्ति में उपचार किया जाता है। अतएव गो शब्द से गोत्व का ही ग्रहण करना चाहिये। अब आकृति वादी आकृति को ही पदार्थ कहता है:—

आकृतिस्तदपेक्षत्वात्सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥ ६५ ॥ (पूर्वपक्ष)

पदार्थों के सम्बन्ध और जाति का निर्णय करने के वास्ते आकृति ही मुख्य साधन है, क्योंकि विना आकृति के यह मनुष्य है, यह अश्व है, यह वृक्ष है, इत्यादि जाति का निर्धारण नहीं हो सकता। इस लिये आकृति ही पदार्थ है। (प्रश्न) आकृति और

व्यक्तिमें भेद क्या है ? (उत्तर) व्यक्ति द्रव्य है और आकृति गुण। प्रत्येक व्यक्ति में एक प्रकार की आकृति होती है, जिस से उस की जाति का पता लगता है अर्थात् आकृति की समता ही जाति का लक्षण है। अब जातिवादी फिर अपने पक्ष को स्थापन करता है :-

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥ ६६ ॥ (पूर्वपक्ष)

मिट्टी की गाय में व्यक्ति और आकृति दोनों हैं, परन्तु उसका दूध निकालो या उसे पानी पिलाओ यह कोई नहीं कहता। यदि केवल आकृति और व्यक्ति से पदार्थ का ग्रहण होता तो " गौ लाओ" यह कहने पर कोई मिट्टी की गाय को भी ले आता, परन्तु ऐसा नहीं होता, इस से सिद्ध है कि केवल जाति ही पदार्थ है। (प्रश्न) यदि आकृति और व्यक्ति का जाति से कुछ सम्बन्ध न माना जावे तो गाय और गधे में भेद क्योंकर होगा ? (उत्तर) आकृति और व्यक्ति तो प्रत्येक भौतिक पदार्थ में रहती है, चाहे वह अश्व हो या वृक्ष, इस लिये आकृति और व्यक्ति से जाति का निर्णय नहीं होता, किन्तु लक्षण और धर्म से होता है, जिस पदार्थ में जिस जाति के लक्षण या धर्म पाये जावें, उसकी वही जाति है। (प्रश्न) लक्षण और गुण भी तो व्यक्ति और आकृति में ही रहेंगे ? (उत्तर) यदि व्यक्ति और आकृति से लक्षणों का ज्ञान होता तो मिट्टी की गाय से सब काम चल जाते। क्योंकि गाय की सी व्यक्ति और आकृति तो उसमें भी है। अब आकृति वादी कहता है:—

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥६७॥(पूर्वपक्ष)

विनाआकृति और व्यक्तिके जातिका ज्ञानहो ही नहीं सकता,क्योंकि जब हम किसी गाय को देखते हैं तो हमें सिवाय उसकी आकृति और स्थूल शरीर के और कोई वस्तु नहीं दीखती, इस लिये जाति के जो लक्षण हैं, वे आकृति और व्यक्ति में ही रह सकते हैं। जब आकृति और व्यक्ति कोई वस्तु नहीं तो जाति भी कोई वस्तु नहीं इस लिये यह बात विचारणीय है कि आकृति कोई पदार्थ है या शरीर कोई पदार्थ है क्योंकि इन में से एक की सत्ता के लिये दूसरे का होना आवश्यक है यदि व्यक्ति को न माना जावे तो आकृति किसकी होगी क्योंकि आकृति व्यक्ति की होती है विना आकृतिके पदार्थ विवेक नहीं होगा (प्रश्न) यदि हम आकृति और व्यक्ति को

पदार्थ मानलें, जाति को कुछ न मानें तो क्या आपत्ति है? (उत्तर) यदि जाति कोई वस्तु न हो तो एक जगह पर घड़ा देखने से दूसरी जगह फिर घड़े का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जब घट में घटत्व जो घटकी जाति है एकसी दीखती है तब एक घट को देख कर यह कहने से कि घट लाओ उसी समय घट लाया जाता है यदि घटत्व कोई वस्तु नहीं तो केवल शब्द मात्र के कहने से कोई भी घट नहीं ला सकता यदि ऐसा कहो कि घट की आकृति से ज्ञात हो जावेगा कि इस आकृति वाली और इतनी लम्बी वस्तु का नाम घट है तो उस के कहने से ही जाति सिद्ध होगई। (प्रश्न) क्या कभी आकृति को प्राधान्य नहींहै। (उत्तर) आकृति किसी दशामें प्रधान नहीं होती, उसकी सत्ता काल्पनिक है। (प्रश्न) इस में क्या प्रमाण है कि यह तीनों पृथक् पृथक् हैं (उत्तर) क्योंकि इन के लक्षणों से ही इनकी सत्ता पृथक् मालूम होती है। इस लिये इन तीनों को एक मानना ठीक नहीं। इन के लक्षणों पर ठीक २ विचार करने से यह पृथक् ही प्रतीत होती है घड़े में जो घड़ापन है, वही हम को उसके घड़े होने का ज्ञान कराता है, अब आचार्य अपना मत प्रकट करते हैं:—

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६८ ॥ (उत्तरपक्ष)

व्यक्ति, आकृति और जाति ये तीनों मिलकर ही पदके अर्थ को प्रकाश करते हैं, अलग २ नहीं यह बात दूसरी है कि इन में कहीं व्यक्ति प्रधान हो, कहीं आकृति और कहीं जाति, वस्तु की सत्ताके प्रसङ्गमें व्यक्ति, भेद के प्रसङ्गमें आकृति और अभेद के प्रसङ्गमें जाति प्रधान होगी। अब सूत्रकार व्यक्ति का लक्षण करते हैं:— (प्रश्न) व्यक्ति किसे कहते हैं?

व्यक्तिगुणविशेषाश्रयो मूर्तिः ॥ ६९ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिसमें गुरुत्व,कठिनत्व,द्रव्यत्व आदि गुणविशेषहों ऐसे मूर्त्तिमान् द्रव्यसंघात को व्यक्ति कहते हैं। गुणाश्रय आत्मा, आकाश, काल आदि अमूर्त्तिमान् द्रव्य भी हैं, परन्तु सूत्र में मूर्त्ति का विशेषण देने से उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता। अब सूत्रकार आकृति का लक्षण कहते हैं:—

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ७० ॥ (उत्तरपक्ष)

जिससे जातिके चिन्ह प्रकट होतेहैं,वह आकृतिहै अर्थात् आकृति ही जाति को बतलाती है, जैसेमनुष्य की आकृति को देखकर मनुष्य जाति का ज्ञान होता है और वह व्यक्ति के अङ्गों की बनावट और

उनके स्वरूप से पहचानी जाती हैं। अब सूत्रकार जाति का लक्षण कहते हैं।

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ७१ ॥ (उत्तरपक्ष)

जो भिन्न २ पदार्थों में समता का भाव है या जिनकी उत्पत्ति (बनावट) एक जैसी हो, वह जाति है और वह आकृति और बनावट की समता से जानी जाती हैं। (प्रश्न) जाति के प्रकार की है? (उत्तर) दो प्रकार की। एक सामान्य और दूसरी विशेष। जैसे मनुष्यजाति सामान्य है, उस में ब्राह्मण, क्षत्रियादि या श्वेत कृष्णादि या देश भेद या धर्म भेद और आचार भेद से विशेष या अवान्तर-जातियां बनती हैं। प्रमाण और जाति की परीक्षा समाप्त हुई।

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय-मान्हिकम् ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः प्रथमान्हिक।

दूसरे अध्याय के दूसरे आन्हिक में प्रमाणों की परीक्षा तो हो चुकी, अब प्रमेयों की जो प्रमाणों से परखे जाते हैं, परीक्षा आरम्भ की जाती है। प्रमेयों में पहला और मुख्य आत्मा है, इस लिये सब से पहले उसी की परीक्षा आरम्भ की जाती है। प्रथम यह सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या देहेन्द्रिय बुद्धि आदि के सङ्घात का नाम ही आत्मा है, या आत्मा इन से कोई भिन्न पदार्थ है। (प्रश्न) यह सन्देह क्यों हुवा? (उत्तर) दो प्रकार का व्यपदेश होने से। (प्रश्न) व्यपदेश किसे कहते हैं? (उत्तर) जिस में कर्त्ता, क्रिया और करण का सम्बन्ध वर्णन किया जावे। (प्रश्न) वह दो प्रकार का व्यदेश क्या है? (उत्तर) पहला अवयव से अवयवी का व्यपदेश होता है, जैसे कहा जावे कि जड़ से वृक्ष की स्थिति है या स्तम्भों से मन्दिर स्थित है इत्यादि। दूसरा अन्य से अन्य का व्यपदेश होता है, जैसे कुल्हाड़ी से काटता है, दीपक से देखता है इत्यादि। आत्मा के लिये जो यह कहा जाता है कि आंख से देखता है, मन से जानता है, बुद्धि से सोचता है और देह से सुख दुःख भोगता है, यह व्यपदेश पहले प्रकार का है या कि दूसरे प्रकार का। यदि पहले प्रकार का है तो देहादि आत्मा के अङ्ग हैं और यदि दूसरे प्रकार का है तो वह उन से भिन्न है। अब आगे यह सिद्ध

किया जायेगा कि आत्मा में दूसरे प्रकार का व्यपदेश सिद्ध होता है। प्रथम इन्द्रिय चैतन्य वादियों का खण्डन करते हैं:—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिस वस्तु को आंख से देखते हैं, उसी को हाथ से उठाते या त्वचा से स्पर्श करते हैं और कहते हैं कि जिस को हमने आंख से देखा था, उसी को त्वचा से स्पर्श करते हैं, या जिस को स्पर्श किया था, उस को आंख से देखते हैं। नींब को देखकर जिह्वा में पानी भर आता है, यदि इन्द्रिय ही ज्ञाता होते तो ऐसा कभी नहीं हो सकता था, क्योंकि और के देखेका और को कभी स्मरण नहीं हो सकता, फिर आंख के देखे हुवे विषय का जिह्वा से या त्वचा से क्योंकर अनुभव किया जाता। जो आंख से देख कर फिर उसी अर्थ का त्वचा या रसना से ग्रहण करता है, वह ग्रहीता इन इन्द्रियों से पृथक् है। अतः इस पर शङ्का करते हैं:—

न विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥ (पूर्वपक्ष)

इन्द्रियसङ्घात के अतिरिक्त और कोई चेतन आत्मा नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों के विषय नियत हैं। आंख के होने से रूप का ज्ञान होता है, न होने से नहीं होता और यह नियम है कि जो जिस के होने से हो और न होने से न हो, वह उसी का कार्य्य समझा जाता है। इस से सिद्ध होता है कि रूप को देखना आंख का काम है, गन्ध को सूंघना नाक का काम है। अतएव प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ विषय के ज्ञान में स्वतन्त्र है, क्योंकि उस के होने से उसका ज्ञान होता है, न होने से नहीं होता। इस दशा में इन्द्रियों के अतिरिक्त किसी चेतन आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है? अब इस का समाधान करते हैं:—

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि प्रत्येक इन्द्रिय सब विषयों के जानने में निरपेक्ष स्वतन्त्र होता या सब मिलकर ही सर्वज्ञ होते तो कौन उन से भिन्न चेतन का अनुमान करता। जब कि प्रत्येक इन्द्रिय प्रत्येक विषय के वास्ते नियत है, अपने विषय के सिवाय वह दूसरे विषय का ज्ञान कराने में असमर्थ है। इसी से तद्भिन्न चेतन आत्मा का अनुमान किया जाता है। इन्द्रिय भृत्यों के सदृश अपना २ काम करते हैं, इन से नियत काम लेने वाला कोई अध्यक्ष (स्वामी) है, जो इन से काम

लेता है, ये उस के कारण मात्र हैं। इस के अतिरिक्त एक इन्द्रिय या सब इन्द्रियों के विकृत होजाने पर भी देह स्थित रहता है, यदि इन्द्रिय ही चैतन्य होते तो उन के न रहने पर देह का भी अवसान होजाना चाहिये था। यदि इन्द्रियों के अतिरिक्त और कोई आत्मा न होता तो सब को यह ज्ञान होना चाहिये था कि "मैं" आंख हूं, मैं कान हूं, परन्तु कोई ऐसा नहीं समझता, प्रत्युत सब यही कहते हैं कि "मेरी आंख है, मेरा कान है" इत्यादि। इस से भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है। इस के अतिरिक्त जिस विषय को हमने आज देखा है, दश वर्ष के बाद फिर हम उस का स्मरण करते हैं और वह हमको प्रत्यक्ष सा मालूम देता है। यदि इन्द्रिय ही चैतन्य होते तो ऐसा नहीं हो सकता था, इन कारणों से सिद्ध है कि आत्मा इन्द्रिय सङ्घात से पृथक् है। अब देहात्मवादियों का खण्डन करते हैं:—

शरीरदाहे पातकाऽभावात् ॥ ४ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि देह से भिन्न कोई आत्मा न होता, तो मृत देह को जलाने में पाप होना चाहिये, परन्तु मुर्दे को जलाने या दबाने में कोई पाप नहीं मानता, न मुर्दे को जलाने वाला दण्डनीय समझा जाता है। इस के अतिरिक्त जब देह ही चेतन है, तो उसके न रहने पर पाप और पुण्य कुछ भी न रहेंगे। पाप पुण्य के अभाव में किसी को दुःख और किसी को सुख न होना चाहिये। यदि कहो कि विना पाप पुण्य के भी केवल ईश्वर की इच्छा या कर्म के कारण दुःख सुख हो सकता है तो यह सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि इस में कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष आता है। जिस शरीर ने पाप किये थे, वह नाश होगया, अब उसको किस प्रकार पाप का फल मिल सकता है और जिस शरीर ने अभी कोई पाप नहीं किया, उसको विना अपराध क्यों दुःख मिलता है? यह बात सर्वथा शास्त्र और युक्ति के विरुद्ध है कि जिसने पाप किया, उसको फल न मिले और जिसने पाप नहीं किया, उसको फल मिले। यदि कहो कि देहात्मवादी पाप पुण्य को नहीं मानते, तो देह की रक्षा और विनाश से लाभ हानि तो मानते हैं, बस उस देह (आत्मा) के नाश से जो हानि होगी, वही पाप है। इस लिये आत्मा देह से भिन्न है। अब इस पर शङ्का करते हैं:—

तद्भावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥५॥ (पूर्वपक्ष)

यदि तुम कहोकि शरीर को आत्म माननेसे शरीरके जलानेसे हिंसा होनी चाहिए और हिंसा होती नहीं, अतः आत्मा शरीर से पृथक् है जब वह निकल जाता है तो शरीर को लाने में पाप नहीं होता। वादी कहता है, जब तुम आत्मा को नित्य मानते हो तो उसे हिंसारूप पाप का अभाव सजीव शरीर को जलाने में भी होना चाहिये, क्योंकि तुम्हारे मत में आत्मा तो नित्य है, उस की कोई हिंसा हो ही नहीं सकती, तो हिंसा का पाप क्योंकर हो सकता है? अतएव दोनों दशाओं में आपत्ति है। देह को आत्मा मानने से तो हिंसा निष्फल हो जाती है और आत्मा को देह से भिन्न मानने में हिंसा होही नहीं सकती। अब इस का समाधान सूत्रकार करते हैं:-

न कार्य्याश्रयकर्त्तृवधात् ॥ ६ ॥ (उत्तरपक्ष)

हम नित्य आत्मा के नाश को हिंसा नहीं कहते, किन्तु नित्य आत्मा जिस शरीर और इन्द्रियों के साथ मिलकर काम करता है, उनके उपघात को हिंसा कहते हैं। इसलिये हमारे मत में उक्त दोष नहीं आता। (प्रश्न) कर्त्तासदा स्वतन्त्रहै और तुम शरीरके सहारे आत्माका कर्म कार्य मानतेहो तो आत्मा स्वतन्त्र कैसेहै? (उ०) आत्मा करने में स्वतन्त्र है शरीर में बैठ कर सुख दुःख अनुभव करता है शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता प्रत्युत उसके काम में बाधा होती है इसलिये आत्मा सहित शरीर के जलाने में हिंसा होती है आत्मा के निकल जाने पर हिंसा नहीं होती। (प्रश्न) क्या कारण है कि आत्मा के निकल जाने पर हिंसा नहीं और मौजूदगी पर जलाने से हिंसा होती है जब कि दोनों दशाओं में आत्मा को कुछ हानि नहीं। (उत्तर) जब कोई स्वयं कपड़ा उतार कर फेंक दे तो उसका उठाने वाला अपराधी नहीं होगा और बलात्कार से उतार ले तो वह अपराधी होता है यद्यपि दोनों दशाओं में कर्ता के कर्म का प्रभाव कपड़े पर पड़ा, कारण यह है जीव का सम्बन्ध अहंकार के साथ होता है जिस को आत्मा अपना नहीं समझता उसके चले जाने में उसे कोई दुःख नहीं जीव की उपस्थिति में उस के जलाने में उसे दुख होता है जिस को दुख हो वही पाप है। (प्रश्न) जब कि शरीर के नाश से आत्मा को कुछ हानि नहीं पहुंचती और वह उस शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में चलाजाता

है तो उसकी हिंसा से पाप क्यों होता और उस को उस शरीर के छोड़ने में दुःख क्यों होता है? (उत्तर) जिस शरीर में आत्मा रहता है, उसको अहङ्कार के कारण वह अपना समझता है, इसलिये उस से उस को एक प्रकार का अनुराग होता है, उस अनुराग के कारण उस शरीर को छोड़ने में वह दुःख मानता है, अतएव आत्मा को शरीर से वियुक्त करने ही का नाम हिंसा या मृत्यु है, न कि आत्मा के नाश का। आत्माके देह से भिन्न होने में एक हेतु और देते हैं:—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिसको बाईं आंख से देखा हो उसका दाईं से प्रत्यभिज्ञान होता है, इससे सिद्ध है कि आत्मा देह से भिन्न है। (प्रश्न) प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं? (उत्तर) पहले और पिछले ज्ञान को एक विषय में मिलाने का नाम प्रत्यभिज्ञान है। जब किसी वस्तु को पहले बांईं आंख से देखा हो, अब उसको दाईं आंख से देखकर यह ज्ञान होता है कि यह वही वस्तु है, जिस को पहले मैंने बांईं आंख से देखा था। यदि देह से भिन्न कोई आत्मा न माना जावे तो प्रत्यभिज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं होता। अब इस पर आक्षेप करते हैं:—

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात्॥८॥ पूर्व०

यह समझना कि बांईं और दाईं दो आंखे हैं, ठीक नहीं, क्योंकि आंख केवल एक ही है, नाक की हड्डी के बीच में आजाने से दो मालूम होती हैं, जैसे किसी तड़ाग में पुल बांध देने से दो तड़ाग नहीं होजाते, ऐसे ही नाक की हड्डी के बीच में आजाने से दो आंख नहीं हो सकतीं। इसलिये जो युक्ति आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न सिद्ध करने के लिये दी गई, वह ठीक नहीं। अब इस का उत्तर देते हैं:—

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ॥९॥ (उत्तरपक्ष)

यदि आंख दो नहीं होती, किन्तु एकही होती, (जैसा कि वादी ने कहा है) तो एक के नाश होने पर दूसरी का भी नाश होजाता, परन्तु ऐसा नहीं होता, एक आंख के नष्ट होजाने पर दूसरी बराबर रहती है और उससे काम लिया जाता है। इस लिये आंख एक नहीं, अब वादी पुनः शङ्का करता है:—

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १० ॥ (पूर्वपक्ष)

दो आंखों की सिद्धी में एक आंख के नष्ट होने पर दूसरी के शेष रहने की जो युक्ति दी गई है, वह ठीक नहीं, क्योंकि किसी वस्तु के एक भाग के नष्ट होने से उस वस्तु का सर्वनाश नहीं होता। जैसे वृक्ष की शाखाओं के कट जाने से भी वृक्ष का नाश नहीं होता। इस लिये आंख एकही है, उसके एक अवयव का नाश होने से अवयवी का नाश नहीं हो सकता। इस का उत्तर देते हैं:—

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥ (उत्तरपक्ष)

वृक्ष का दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि वृक्ष अवयवी है शाखायें उसका अवयव। इस प्रकार एक आंख दूसरी आंख का अवयव नहीं अर्थात् वे दोनों किसी अवयवी का अवयव है। यदि आंख एक होती तो एक में सुर्खी या रोये होने से दोनों में सुर्खी या रोये होने चाहिये एक में दृष्टि रोग होने से दूसरी में भी होनी चाहिये क्यों कि ऐसा नहीं होता इससे आंख दो ही हैं। इस दृष्टान्त विरोध से उनका एक होना सिद्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त नाक की हड्डी निकालने पर भी दोनों आंखों के गोलक भिन्न २ दृष्ट पड़ते हैं। जिनसे दो आंखों का होना प्रत्यक्ष सिद्ध है, जब आंखें दो सिद्ध हो गईं, तब एक के देखे हुवे अर्थ को दूसरी से प्रत्यभिज्ञा का होना यह सिद्ध करता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है और वही चेतन आत्मा है। फिर उसी की पुष्टि करते हैं:—

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रायः स्थलों पर किसी पके हुवे फल को देखते ही मुंहमें पानी भर आता है, इससे भी मालूम होता है कि स्मरण करने वाला इन्द्रियों से भिन्न आत्मा है, जिसको फल देखते ही उसका स्वादु स्मरण हो कर मुंह में पानी भर आया। यदि इन्द्रियों को ही निरपेक्ष अपने २ विषयों का ज्ञाता माना जावे तो आंख के देखने से मुंह में पानी भर आना नहीं हो सकता, क्योंकि कोई इन्द्रिय दूसरे इन्द्रिय के विषय को नहीं जान सकता और न आंख के देखने से रसना को उसका ज्ञान हो सकता है। अब वादी पुनः आक्षेप करता है:—

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥ (पूर्वपक्ष)

किसी गुज़री हुई बात को स्मरण करना स्मृति का धर्म है,

क्योंकि स्मर्त्तव्य जितने विषय हैं, वे स्मृति में आते ही रहते हैं। और यह कोई नियम नहीं है कि पहले जिस इन्द्रिय से जो ज्ञान हुआ हो, फिर उसी इन्द्रिय के द्वारा उस का स्मरण भी हो। जिस वस्तु का एक बार प्रत्यक्ष हो चुका है (चाहे वह किसी इन्द्रिय के द्वारा हो) उसी को स्मृति होती है, अप्रत्यक्ष की नहीं। इस के लिये इन्द्रियों से भिन्न आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है? अब इसका समाधान करते हैं :—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥ (उत्तरपक्ष)

स्मृति आत्मा का गुण है, नकि किसी इन्द्रिय का। यदि इन्द्रियों का गुण स्मृति होती तो किसी एक कर्त्ता के न होने से विषयों का प्रतिसन्धान नहीं हो सकता था अर्थात् एक इन्द्रिय से जिस विषय का ज्ञान हुवा, दूसरा इन्द्रिय उसके स्मरण का हेतु क्योंकर होसकेगा? यदि स्मर्त्तव्य विषय को ही स्मृति का कारण माना जावे तो मृत देह में स्मृति क्यों नहीं उत्पन्न होती। जब कि उसमें इन्द्रिय भी मौजूद हैं और स्मर्त्तव्य विषय भी सम्मुख है, फिर स्मृति का बाधक कौन है? इससे सिद्ध है कि स्मृति केवल आत्मा का गुण है, स्मर्त्तव्य विषय उसके उद्बोधक अवश्य हैं, परन्तु उसका आधार केवल आत्मा है, विना आत्मा के स्मृति और किसी पदार्थ में रह नहीं सकती। इस के अतिरिक्त "मैं स्मरण करता हूं" यह प्रत्यक्ष भी जो प्रत्येक मनुष्य को होता है, स्मृति का आत्मगुण होना सिद्ध करता है। इस पर और भी हेतु देते हैं:—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥(उत्तर पक्ष)

वादीने यह जो कहा था कि स्मर्त्तव्य विषय ही स्मृति का कारण है, यह ठीक नहीं क्योंकि स्मर्त्तव्य विषय असंख्य हैं, इस लिये वे स्मृति का कारण नहीं हो सकते। (प्रश्न) स्मृतिविषय किसे कहते हैं? (उत्तर) स्मृति चार प्रकार की है [१] मैंने इस पदार्थ को जाना [२] मैं इसका जानने वाला हूं, [३] मुझसे यह पदार्थ जाना गया, [४] मुझे यह ज्ञान हुवा, यह जो चार प्रकार का परोक्ष ज्ञान है यही स्मृति का मूल है, इन चार प्रकार की स्मृति में सर्वत्र ज्ञान का सम्बन्ध ज्ञाता और ज्ञेय दोनों से है। यह ज्ञान न तो विना ज्ञाता के रह सकता है और न अनेक ज्ञाताओं से इसका सम्बन्ध है किन्तु एक ही ज्ञाता ज्ञेय पदार्थों के अनुरोध से अपने सम्पूर्ण

ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। "मैंने इस बात को जाना, मैं इस बात को जानता हूं और मैं इस को जानूंगा" इन तीनों कालों के ज्ञान का प्रतिसन्धान यदि ज्ञाता न हो तो नहीं होसकता। यदि इसको केवल संस्कारों का फैलाव मात्र ही माना जावे, प्रथम तो संस्कार उत्पन्न होकर विलीन होजाते हैं, दूसरे कोई संस्कार ऐसा नहीं है, जो तीनों काल के ज्ञान को अपने में धारण करसके। विना ज्ञाता के संस्कार से "मैं और मेरा" यह ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। अतएव स्मृति विषय के अपरिसंख्येय और आत्माश्रित होने से ज्ञान का कारण स्मर्त्तव्य विषय नहीं हो सकते। इस पर वादी पुनः शङ्का करता है:—

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ॥१६॥ (पूर्वपक्ष)

जो हेतु तुमने आत्मा की सिद्धि में दिये हैं, उनसे मनकी सिद्धि होती है, न कि भिन्न २ अर्थों का ज्ञान या एक अर्थ का ज्ञान और फिर उनका प्रतिसन्धान यह सब काम मन कर सकता है, जैसे दर्शन स्पर्शन से जो एक प्रकार का ज्ञान होना आत्मकी सिद्धि में बताया है वह मन की सिद्धि करता है फिर देहादि से भिन्न आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान करते हैं:—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥१७॥ (उत्तरपक्ष)

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक कारण कर्त्ता की सहायता के लिये होता है, यदि कर्त्ता न हो तो सब कारण मिलकर भी कोई काम नहीं कर सकते, इसी प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के जितने साधन हैं, वे सब ज्ञाता की सहायता के लिये हैं, जैसे आंख से देखता है, नाक से सूंघता है, त्वचा से स्पर्श करता है, मन से सोचता है, इत्यादि, आंख आदि के समान मन भी एक ज्ञानसाधन है, जिसको अन्तःकरण भी कहते हैं, वह ज्ञान की उपलब्धि में मन का साधक है न कि बाधक। यदि मन को ही चेतन माना जावे, करण न माना जावे, तब भी केवल संज्ञा भेदमात्र होगा, अर्थभेद नहीं, अर्थात् जिस को हम आत्मा कहते हैं, उसको तुम मन कहते हो, मन के स्थान में कोई और नाम कल्पित करना पड़ेगा। परन्तु इससे उस सिद्धान्त में कि "देहादिसंघात से आत्मा पृथक् है" कोई हानि नहीं होती। इस पर एक हेतु और भी देते हैं:—

नियमश्च निरनुमानः ॥ १८ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि कोई कहे कि रूपादि के ग्रहण करने वाले चक्षुरादि इन्द्रिय तो अवश्य हैं, परन्तु सुखादि के अनुभव करने वाले मन या अन्तःकरण की कोई आवश्यकता नहीं, यह विना किसी कारण के ही उपलब्ध होते हैं, ऐसा नियम बांधना अनुमान के विरुद्ध है। क्योंकि इसमें तो किसी को सन्देह नहीं कि रूपादि से पृथक् सुखादि विषय हैं उनके जानने के लिये भी कारण का होना आवश्यक है। जैसे आंख से गन्ध का ज्ञान नहीं होता, उसके लिये दूसरा इन्द्रिय घ्राण मानना पड़ता है, और आंख और नाक दोनों से रसका ज्ञान नहीं होता, इस लिये उस के लिये तीसरा इन्द्रिय रसना को मानना पड़ता है। ऐसे ही आंख आदि पांचों इन्द्रियों से सुखादि का ज्ञान नहीं होता, तब उसके लिये मन अन्तःकरण की आवश्यकता क्यों नहीं? सारे इन्द्रिय मन से सम्बन्ध रखते हैं यही कारण है कि एक साथ अनेक विषयों का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि जब जिस इन्द्रिय के साथ उसका संयोग होता है, तभी तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये पूर्व आत्मसिद्धि के लिये जो हेतु दिये गये हैं, वे मनमें कदापि नहीं घट सकते। अब उस आत्मा के विषय में जिस को देहादिसंघात से पृथक् सिद्ध किया है, यह सन्देह उत्पन्न होता है कि वह नित्य है या अनित्य? अगले सूत्र में आत्मा की नित्यता सिद्ध करते हैंः—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥ १९ ॥ (उत्तरपक्ष)

पहले जन्म के अभ्यास से जो सद्योजात बालक के हृदय में हर्ष भय और शोक उत्पन्न होते हैं, उस से जीवात्मा का जन्म से पूर्व होना सिद्ध होता है। क्योंकि इस जन्म में तो उसने इनके कारणों को अनुभव ही नहीं किया। विना किसी वस्तु को देखे या अनुभव किये उसकी स्मृति नहीं हो सकती। जब अभी तक उसने सुख दुःख या भय के कारणों को अनुभव ही नहीं किया तो उस पर इन का प्रभाव क्यों पड़ता है? इसका कारण सिवाय पूर्व जन्म के अभ्यास के और कोई नहीं हो सकता अतएव आत्मा नित्य है। अब इस पर शङ्का करते हैं (प्रश्न) क्या आत्मा उत्पन्न हुआ है? (उत्तर) आत्मा की उत्पत्ति मानने वालों से यह प्रश्न होता है कि आत्मा शरीर के साथ उत्पन्न हुआ या पूर्व या बाद को। यदि कहो शरीर से

पूर्व हुआ तो उसका उपादान कारण क्या है प्रत्येक उत्पत्तिमान् द्रव्य का उपादान कारण अवश्य होता है यदि कहो शरीर के साथ उत्पन्न होता है तो पूर्वोक्त शोक हर्ष नहीं हो सकते । अतः आत्मा अनादि है। (प्रश्न) विना उपादान कारण के कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता यह विचार ठीक नहीं जिस प्रकार गुरु के उपदेश से शिष्य को ज्ञान होता है उसी प्रकार विना उपादान कारण के आत्मा उत्पन्न होता है (उत्तर) यह ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान गुण है जो अपने गुणी से दूसरे में जाता है परन्तु आत्मा द्रव्य है कोई ऐसा उदाहरण दो जहां द्रव्य विना उपादान के उत्पन्न हो द्रव्य में गुण, कर्म, उपादान होने की शक्ति है।

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलन विकारवत्तद्विकारः ॥२०॥ पू०

जैसे अनित्य कमल के फूल में प्रबोध (खिलाना) सम्मीलन (बन्दहोना) आदि विकार स्वाभाविक हैं, ऐसे ही सद्योजात बालक में भी हर्ष, भय, शोक स्वाभाविक रीति पर उत्पन्न हो जाते हैं, इस दशा में पूर्वजन्म के मानने की कोई आवश्यकता नहीं, अब इस का समाधान करते हैं :—

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मक विकाराणाम् ॥ २१ ॥ (उत्तरपक्ष)

जो कमल के फूल का दृष्टान्त आत्मा से दिया गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि फूल आदि पञ्चभूतों का विकार हैं, उन में उष्ण शीत और वर्षा ऋतुओं के कारण विकार उत्पन्न होते हैं, आत्मा भौतिक नहीं है, जो कालका प्रभाव उस पर पड़सके । इस लिये यह दृष्टान्त ठीक नहीं । अथवा पद्मादिकों में भी प्रबोधादि विकार निर्निमित्त नहीं हैं, सर्दी गर्मी और वर्षा आदि का होना ही उन का निमित्त है, इसी प्रकार आत्मा के हर्ष शोकादि का निमित्त पूर्वाभ्यस्त संस्कार हैं । जैसे विना सर्दी गर्मी आदि निमित्तों के पद्मादि में प्रबोधादि विकार नहीं हो सकते, वैसे ही विना पूर्वाभ्यस्त संस्कारों के तत्काल जन्मे बालक में हर्ष शोकादि भी नहीं हो सकते । अतएव आत्मा नित्य है, इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं :—

प्रत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥२२॥ उत्तर०

जन्म लेते ही बालक माता के स्तन को चूसने लगता है, इससे अनुमान होता है पहले जन्म के संस्कार उसको दूध पीना सिखला

देते हैं, अन्यथा जबतक जीव को कोई बात सिखलाई न जावे, तब तक उसको उसका ज्ञान नहीं होता। जैसे हम लोग इस जन्म के अभ्यास से भूख लगने पर खाना खाते हैं, ऐसे ही उत्पन्न हुवा बालक पूर्वजन्म के अभ्यास से दूध पीता है, क्योंकि इस जन्म में तो अभी उसने अभ्यास किया ही नहीं। (प्रश्न) क्या जीव को विना अभ्यास के स्वमेव किसी काम के करने का ज्ञान नहीं होता, सब बातों के सीखने की आवश्यकता होती है? (उत्तर) जीवात्मा को दो ही प्रकार से ज्ञान होता है, या तो प्रत्यक्ष से या स्मृति से, इनके सिवाय किसी बात को विना सीखने के नहीं जान सकता। (प्रश्न) अनुमानादि से भी तो विना सीखने के ज्ञान होता है, फिर कैसे कहते हो कि विना प्रत्यक्ष या स्मृतिके ज्ञान नहीं होता। (उत्तर) अनुमान तो प्रत्यक्ष का ही शेष है और शब्द दूसरे से जाना जाता है, इसलिये वह शिक्षा के अन्तर्गत है। (प्रश्न) जबकि हम पूर्वजन्म को ही नहीं मानते तो पूर्वजन्म के अभ्यास को (जो अभी साध्य पक्ष में है) हेतु ठहराना साध्यसमहेत्वाभास है। (उत्तर) पूर्वजन्म को हमने हेतु में नहीं रक्खा है, हेतु तो जन्म लेते ही बालक का दूध पीने लगना है, जिस से कोई नास्तिक भी इन्कार नहीं कर सकता। हां इस हेतु से साध्य पूर्वजन्म की सिद्धि अवश्य होती है वादी फिर आक्षेप करता है :—

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥२३॥ पूर्वपक्ष

जैसे चुम्बक पत्थर अभ्यास के विना ही लोहे को अपनी तरफ़ खींचता है, उस लोहे में न तो स्मृति है और पूर्वाभ्यास। ऐसे ही बालक भी विना स्मृति और अभ्यास के दूध पीने लगता है। इसलिये यह हेतु कि विना पूर्वाभ्यास के भोजनमें प्रवृत्ति नहीं होसकती ठीक नहीं। अब इस का उत्तर देते हैं :—

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २४ ॥ (उत्तरपक्ष)

लोहे और चुम्बकका दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि लोहे का चुम्बक के पास सरकना भी किसी कारण से है, यदि इस में कोई कारण न होता तो मिट्टी पत्थर आदि भी लोहे के पास सरक जाते। यह नियम है कि लोहा चुम्बक को ही अपनी ओर आकर्षण करता है, अन्य किसी को नहीं, इन के विशेष सम्बन्धरूप निमित्त को सूचन करता है। बस ऐसे ही बालक की दूध पीने में प्रवृत्ति भी अकारण

नहीं है, अब रही यह बात कि वह कारण क्या है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जीवों को भोजन में प्रवृत्ति पूर्वाभ्यस्त आहार की स्मृति से होती है, इस से आत्मा का नित्य होना सिद्ध है। अब इसकी पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं :—

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २५ ॥ (उत्तरपक्ष)

आत्मा के नित्य होने में दूसरा कारण यह भी है कि रागानुबद्ध जीव ही जन्म लेता है, वीतराग नहीं। राग जन्म का कारण है और यह विना पूर्वाभ्यस्त संस्कारों के हो नहीं सकता। वह आत्मा पूर्व शरीर में अनुभव किये विषयों का स्मरण करता हुआ उन में रक्त होता है, और यही जन्म का कारण है। तत्त्वज्ञान के निरन्तर अभ्यास से जब राग की वासनायें समूल नष्ट होजाती हैं, तब कारण के अभाव से कार्य जन्मादि का भी अभाव होजाता है, इसी को मुक्तावस्था कहते हैं। इससे भी आत्मा का नित्य होना सिद्ध है। अब इस पर शङ्का करते हैं :—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥२६ ॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे उत्पत्ति धर्म वाले घटादि कार्य्यों के रूपादि गुण कार्योत्पत्ति के साथ ही आप ही उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे ही उत्पन्न होने वाले आत्मा में रागादि गुणों की उत्पत्ति भी स्वमेव हो जायगी। इसमें पूर्व संस्कार या स्मृतिके माननेकी क्या आवश्यकता है ? अतएव आत्मा अनित्य है, अब इसका उत्तर देते हैं :—

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥२७॥ (उत्तरपक्ष)

सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान रागादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि रागादि सङ्कल्पमूलक हैं। घटादि कार्यों में रूपादि गुण समवायसम्बन्ध से सदा बने रहते हैं, परन्तु आत्मा में राग सदा नहीं रहता, वह जब पूर्वानुभूतसंस्कार या उन की स्मृति से मन में कोई संङ्कल्प उत्पन्न होता है, तभी राग या द्वेष की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। अतएव राग के सङ्कल्प मूलक होने से सगुण द्रव्यवत् उस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आत्मपरीक्षा समाप्त हुई, अब दूसरे प्रमेय शरीर की परीक्षा आरम्भ करते हैं। प्रथम शरीर का मुख्य उपादान क्या है ? इसका प्रतिपादन करते हैं।

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥ (उत्तरपक्ष)

देह का भौतिक होना तो सर्वसम्मत है, परन्तु पांचों (पृथिवी,

अप, तेज, वायु, आकाश) सामान्य रूप से इस का उपादान है, या इन में कोई विशेष है ? इस के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं । यद्यपि यह देह पञ्चभूतात्मक है, तथापि पृथिवी इस का विशेषरूप से उपादान है । अन्य अप् तेज आदि इसके निमित्त कारण हैं उपादान नहीं । इस का कारण यह है कि देह में जलादि के गुण द्रवत्वादि नहीं पाये जाते, पृथिवीके काठिन्य और गन्धादि गुण प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, अतः यह देह पार्थिव है ? (प्रश्न) क्या शरीर में केवल पार्थिव ही परमाणु होते हैं, जलादि के नहीं ? (उत्तर) पृथिवी में तो पार्थिव प्रधान ही शरीर होते हैं, अन्य लोकों में जलादि प्रधान शरीरों का होना माना गया है । यद्यपि संयोग सब भूतों का होता है, तथापि पृथिवीमें पार्थिव अंश ही प्रधान है । इसी की पुष्टि में अन्य हेतु भी देते हैं ।

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ २९ ॥ (उत्तरपक्ष)

श्रुतिके प्रमाण से भी शरीर का पार्थिव होना सिद्ध होता है वह श्रुति का प्रमाण यह है "सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छतात्, पृथिवीं ते शरीरम्" इत्यादि । इस श्रुति में जहां यह कहा गया है कि सूर्य में तेरी आंख जावें वहां पृथिवी शरीर का जाना कहा गया है । कार्य सदा अपने कारण में लीन होता है और इसी को नाश कहते हैं । जब शरीर पृथिवी का कार्य है, तो वह नष्ट होजाने पर अवश्य पृथिवी में मिलेगा इस श्रुति से तथा "भस्मान्तꣳ शरीरम्" इत्यादि यजुर्वेद की श्रुतियों से शरीर का पार्थिव होना सिद्ध है । अब इन्द्रियों की परीक्षा आरम्भ करते हैं । प्रथम इस प्रश्न पर विचार किया जाता है कि इन्द्रिय भौतिक हैं वा अभौतिक ?

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥ ३० ॥ (पूर्वपक्ष)

आंख में जो काले रंग की पुतली है, उस के होने पर रूप का ग्रहण होता है, न होने पर नहीं, इस से मालूम होता है कि यह पुतली ही आंख है और वह पुतली भौतिक है, इस लिये आंख का भी भौतिक होना सिद्ध है, एक पक्ष तो यह हुआ, दूसरा पक्ष यह है कि आंख की पुतली का विषय से जब कुछ व्यवधान (फासला) होगा, तभी उस का ग्रहण हो सकेगा, अन्यथा यदि कोई वस्तु आंख की पुतली से मिलादी जाय तो कदापि उसका ग्रहण न हो

सकेगा। इससे यह मालूम होता है कि यह पुतली तो आंख के भीतर ही रहती है, बाहर नहीं जाती, परन्तु रूप का ग्रहण तब होता है, जब वृत्ति बाहर निकल कर विषय में तदाकार होजाती है, और वह वृत्ति इस पुतली से पृथक् है। इस से इन्द्रियों के अभौतिक होने का अनुमान होता है, क्योंकि अप्राप्त और दूर की वस्तु को ग्रहण करना भौतिक पदार्थ का काम नहीं। इस लिये यह संशय उत्पन्न होता है कि इन्द्रिय भौतिक हैं वा अभौतिक? अगले सूत्र में इन्द्रियों को अभौतिक सिद्ध करते हैं:—

महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥ (पूर्वपक्ष)

आंख से छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा पदार्थ भी देखाजाता है, इस लिये इन्द्रिय अभौतिक हैं, क्योंकि भौतिक पदार्थों का यह नियम है कि वे जितनी सीमा में होते हैं उनकी शक्ति और प्रभाव उस सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते। (प्रश्न) क्या आंख सब छोटे बड़े पदार्थों में व्यापक होजाती है? (उत्तर), छोटे से छोटे सरसों के दाने और बड़े से बड़े पहाड़ को इसी आंख से देखते हैं इस से आंख का अभौतिक होना सिद्ध है, क्योंकि यदि पुतली आंख होती, तो इतने बड़े पहाड़ को कैसे देख सकती आक्षेप हो चुके, अब इसका समाधान करते हैं:—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् ॥३२॥ (उत्तरपक्ष)

चक्षु तैजस इन्द्रिय है, इस लिये उसकी किरणें तेज की किरणों से मिलकर दृश्य वस्तु में व्यापक हो जाती हैं, जिस से छोटे बड़े पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। दृष्टान्त हम दीपक का दे सकते हैं, दीपक छोटा होता है, परन्तु उसकी ज्योति जहां तक आवरण नहीं होता, वहां तक फैल जाती है, ऐसे ही आंख की पुतली भी यद्यपि छोटी होती है, तथापि उसकी ज्योति दूर तक फैल सकती है। यदि आंख अभौतिक होती तो आगे पीछे दायें बायें सब तरफ को देखती और आवरण भी उसकी दर्शनशक्ति को नहीं रोक सकता था। इस से सिद्ध है कि आंख अभौतिक है। अब इस पर शङ्का करते हैं

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३३ ॥ (पूर्वपक्ष)

यदि दीपक के समान आंख की भी किरणें होतीं, तो वे दीपक की ज्योतिके समान उष्ण तथा प्रकाश उपलब्ध होता। जब किरणों की उपलब्धि ही नहीं होती तब उनका मानना व्यर्थ है। हम को तो

गोलक और पुतली के अतिरिक्त आंख में और कुछ नहीं दीखता, अतएव यही चक्षुरिन्द्रिय हैं। अब इसका उत्तर देते हैं:—

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ३४ (उ०)

जो वस्तु अनुमान से सिद्ध है, उसका प्रत्यक्ष से न ग्रहण किया जाना अभाव का कारण नहीं हो सकता। जैसे चन्द्रमा का पिछला भाग और पृथिवी का नीचे का भाग हमको नहीं दीखता, परन्तु अनुमान से सिद्ध है इस लिये सब मानते हैं। ऐसे ही आंख की ज्योति यदि प्रत्यक्ष नहीं होती तो अनुमान से तो सिद्ध है। इस लिये उसका अभाव नहीं माना जा सकता। फिर इसी की पुष्टि करते हैं:-

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३५ ॥ (उत्तरपक्ष)

बहुत से द्रव्य ऐसे होते हैं कि जिन का प्रत्यक्ष होता है और बहुत से ऐसे भी होते हैं कि जिनका प्रत्यक्ष तो नहीं होता, किन्तु वे अपने गुण से पहचाने जाते हैं। जैसे जल और अग्नि के परमाणु किसी को प्रत्यक्ष नहीं दीखते, किन्तु वे अपने शीत या उष्ण स्पर्श से जाने जाते हैं। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय भी प्रत्यक्ष नहीं दीखता, किन्तु अपनी दर्शनशक्ति से पहचाना जाता है। फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्चरूपोपलब्धिः ३६ (उ०)

रूप अग्नि का गुण है और वह दो प्रकार का होता है, एक वह जो उद्भूत होने से प्रत्यक्ष होता है, दूसरा अनुद्भूत होने से प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुभव या स्पर्श से जाना जाता है। अनेक द्रव्य जब आपस में मिलते हैं तब उन में रूप का अनुद्भव रहता है। आंख का किरणें अनुद्भूत रूप हैं, इस लिये उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुभव या स्पर्श से जाना जाता है। अनेक द्रव्य जब आपस में मिलते हैं, तब उन में रूप का उद्भव होता है और जब वे अपने कारणरूप में रहते हैं तब उन में रूप का अनुद्भव रहता है। आंख की किरणें अनुद्भूतरूप हैं इस लिये उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। तेज के परमाणुओं या गुणों में यह देखाजाता है कि कहीं तो रूप और स्पर्श दोनों की उपलब्धि होती है, कहीं केवल स्पर्श की और कहीं इन दोनों की उपलब्धि नहीं होती। जिस में रूप स्पर्श दोनों की उपलब्धि होती है, उसी का प्रत्यक्ष होता है, जैसे सूर्य की

किरणों का, जिसमें केवल रूप की उपलब्धि होती है, स्पर्श की नहीं, उस का भी प्रत्यक्ष होता है, जैसे दीपक की किरणों का और जिस में केवल स्पर्श की उपलब्धि होती है, रूप की नहीं, उसका भी प्रत्यक्ष होता है, जैसे उष्णजल में स्पर्श से अग्निका प्रत्यक्ष होता है। जिसमें रूप और स्पर्श दोनों की उपलब्धि नहीं होती, उस का प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे आंख की किरणों में न रूप है न स्पर्श, इसी लिये उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। आंख की किरणें भी सूर्य या दीपक की किरणों के समान उद्भूतरूप क्यों नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः॥३७॥(उत्तर०)

सब इन्द्रिय जीवात्मा के कर्मफल भोगने के वास्ते बनाये गये हैं और इन्द्रियों की सारी शक्ति जीवात्मा के अधीन है। तात्पर्य यह कि शरीर और इन्द्रियगण स्वतन्त्र नहीं है, वे जीवों के कर्मफल भोगने के वास्ते साधन बनाये गये हैं। यदि कर्मों का भोग न होता तो शरीर और इन्द्रिय भी न होते। (प्रश्न) आंख को तैजस क्यों माना जावै, जबकि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। (उत्तर) आंख बिना प्रकाश के काम नहीं कर सकती, प्रकाश उसका सहायक है और प्रकाश तेज का धर्म है, इस लिये चक्षु तैजस है। फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः॥३८॥(उत्तर०)

बीच में किसी आवरण के आजाने से चक्षु की दर्शनशक्ति रुक जाती है, और आवरण से भौतिक पदार्थ की ही शक्ति का अवरोध हो सकता है, अभौतिक का नहीं, इसलिये चक्षु भौतिक है। यदि आवरण की रुकावट होने से चक्षु को भौतिक मानोगे तो कहीं पर रुकावट न होने से अभौतिक भी मानना पड़ेगा। जैसे कांच या जल का आवरण होते हुवे भी चक्षुरश्मि नहीं रुकती। अनुपलब्धि का और भी कारण है:—

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः॥३९॥उ०

जैसे दिनमें सूर्य्य के प्रकाश से अभिभूत होकर तारे नहीं दीखते, या खद्योत नहीं चमकते, परन्तु उनका या उनके प्रकाश का अभाव नहीं माना जाता, ऐसेही आंखोंकी रश्मि भी नहीं दीखती। इस पर वादी शङ्का करता है:—

न, रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४० ॥ (पूर्वपक्ष)

खद्योत या तारों का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि उनका प्रकाश यदि दिन में सूर्य के प्रकाश से दबा रहता है तो रात्रि में तो जब सूर्यका प्रकाश नहीं होता, उसकी उपलब्धि होती है, परन्तु आंख की किरणें तो न दिनमें दीखती हैं,न रात में। इस लिये जिसकी उपलब्धि किसी काल में भी नहीं होती उसका मानना व्यर्थ है। अब इसका उत्तर देते हैं :—

वाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धेरन भिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४१ ॥ (उत्तरपक्ष)

वाह्य प्रकाश की सहायता से अर्थात् सूर्य्यादि के प्रकाश की सहायता से आंख देखने में समर्थ होती है और वाह्य प्रकाश के न होने से किसी वस्तु के रूप का ज्ञान नहीं होता। किन्तु वाह्य प्रकाश से भी उन्हीं पदार्थों का ज्ञान होता है जो उद्भूतरूप हैं,और जो अनुद्भूतरूप हैं, उनका ज्ञान नहीं होता। क्योंकि वाह्य प्रकाश स्थूल पदार्थों को ही दिखला सकता है, सूक्ष्म को नहीं, आंख की किरणें भी सूक्ष्म हैं इस लिये उनका प्रत्यक्ष नहीं होता पुनः इसीकी पुष्टि करते हैं :—

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४२ ॥ (उत्तरपक्ष)

जो पदार्थ अभिव्यक्त (उद्भूत) होते हैं और वाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखते जैसे कि नक्षत्र और दीपादि, उन्हीं का अभिभव (दब जाना) होता है, तथा जो पदार्थ उद्भूतरूप तो नहीं होते किन्तु वाह्य प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं, जैसे कि घटपटादि स्थूल पदार्थ और चक्षुरश्मि आदि सूक्ष्म पदार्थ, इनका अभिभव नहीं होता जो कि आंख की रश्मि दीपादि के समान अभिव्यक्त नहीं, इस लिये उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसपर और भी हेतु देतेहैं:—

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४३ ॥ (उत्तरपक्ष)

रात को घूमने वाले सिंह मार्जार आदि जितने जन्तु हैं उनकी आंखों में तेज की किरणें देखने में आती हैं। इस से सब जन्तुओं की आंखों में प्रकाश की किरणों के होने का अनुमान होता है। भेद केवल इतना है कि तीव्र ज्योति वाले जन्तुओं में इसका प्रत्यक्ष होता है, मन्द ज्योति वालों में नहीं। इन्द्रिय और अर्थ के संयोग को प्रत्यक्ष का कारण कहा था, अब इस पर शङ्का करते हैं :—

अप्राप्यग्रहणंकाचाऽभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः॥४४पू०

इन्द्रिय और पदार्थ का संयोग ही प्रत्यक्ष का कारण नहीं, क्योंकि काच, अभ्रक और स्फटिक के व्यवधान (आवरण) होने पर भी आंख से रूप का ग्रहण होता है। यदि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही प्रत्यक्ष का कारण होता तो आवरण होनेपर कोई वस्तु न दीखती, परन्तु दीखती है, इससे सिद्ध है कि इन्द्रिय अप्राप्त को ग्रहण करते हैं, अतएव वे अभौतिक हैं, क्योंकि केवल प्राप्त को ग्रहण करना भौतिक पदार्थ का धर्म है। अब इसका समाधान करते हैं:—

न कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥४५॥ (उत्तरपक्ष)

यदि इन्द्रियों में यह शक्ति होती कि वे अप्राप्त को भी ग्रहण करलें तो भित्ति (दीवार) का आवरण होनेपर भी वस्तुकी उपलब्धि होती, परन्तु ऐसा नहीं होता। इन्द्रियों के भौतिक होने का निषेध नहीं होता। जो कि काचादि के आवरण में देख लेना और भित्ति के आवरण में न देख सकना ये दोनों प्रकार के धर्म चक्षु में पाये जाते हैं, इसका समाधान अगले सूत्र में करते हैं।

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४६ ॥ (उत्तरपक्ष)

काच, अभ्रक और स्फटिक आदि पदार्थ स्वच्छ होने से आंखों की किरणों को रोक नहीं सकते, इसलिये उनका आवरण होनेपर भी संयोग में रुकावट नहीं होती। संयोग की उपस्थिति होनेपर ही रूप का ग्रहण होता है और यह समझना कि भौतिक पदार्थोंमें रुकावट होती है, इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं।

आदित्यरश्मेःस्फटिकान्तरेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥ ४७ ॥
(उत्तरपक्ष)

सूर्य की किरणें काचादि का आवरण होनेपर भी दूसरी तरफ चली जाती हैं, जिसका प्रमाण आवरित पदार्थ का उष्ण होजाना है। और देखिये एक बटलोई में पानी डालकर नीचे आग जला देते हैं तो आगकी गरमी देगची के परदे से गुजर कर पानी में चली जाती है, इस से जाना जाता है कि तेज की किरणें सूक्ष्म होने से इन आवरणों से नहीं रुक सकती। जैसे सूर्य की किरणों को कुम्भादि का आवरण पानी में उष्णता पहुंचाने से नहीं रोकसकता, ऐसे ही आंख की किरणों को भी काचादि का आवरण दृश्य

पदार्थ में जाने से नहीं रोक सकता। फिर आक्षेप करते हैं :—

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥ (पूर्वपक्ष)

कहीं पर आवरण होने से आँख की किरणों का रुक जाना जैसे कि दीवार आदि में और कहीं आवरण होने से न रुकना जैसे कि काचादि में ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध है। यातो दीवार से भी रुकावट होनी चाहिये या काच से भी रुकावट होनी चाहिये। इसका उत्तर देते हैं :—

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ ४९ ॥ (उत्तरपक्ष)

जैसे दर्पण और जल स्वभावस्वच्छ होने से नेत्ररश्मि को नहीं रोकते, ऐसे ही स्फटिकादि भी स्वच्छ स्वभाव होने से नेत्ररश्मि के बाधक नहीं होते। भित्ति आदि मलिन स्वभाव होने से रुकावट का कारण होते हैं। (प्रश्न) भित्ति आदि के मलिनस्वभाव और काचादि के स्वच्छ स्वभाव होने का क्या कारण है ? (उत्तर) सत्व, रज, तम प्रकृति के ये तीन गुण हैं, अग्नि में सत्वगुण प्रधान है, जल में रजस् और पृथिवी में तमस्। अग्नि के परमाणु अधिक होने से काचादि स्वच्छ स्वभाव है, पृथिवी के परमाणु अधिक होने से भित्त्यादि मलिन स्वभाव हैं। दर्पणादि के समान आंख की ज्योति को क्यों माना जावै ?

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥५०॥ (उत्तर०)

जो बातें प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से सिद्ध है, उनमें भी मीन मेष निकालना या यों कहना कि ऐसा होना चाहिये, ऐसा न होना चाहिये, ठीक नहीं है, जैसे काच का आवरण होने से दूसरी तरफ के पदार्थ दीखते हैं, भित्ति के आवरण में नहीं दीखते यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है अब इस में यह आक्षेप करना कि काच के आवरण में क्यों दीखते हैं, या भित्ति के आवरण में क्यों नहीं दीखते बिल्कुल असङ्गत है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की बनावट और दशा भिन्न २ है, इस लिये सब में एकसा नियम नहीं हो सकता। इस विषय को यहीं समाप्त करके अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि इन्द्रिय एक है वा अनेक ? प्रथम संशय का कारण कहते हैं:—

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयवि नानात्वादवयवि-नानास्थानत्वाच्च संशयः ॥ ५१ ॥ (पूर्वपक्ष)

इन्द्रियों के स्थान पृथक् २ होने और अनेक स्थानों में अनेक द्रव्यों के देखने से और एक ही अवयवी को भिन्न २ स्थानों में देखने से यह सन्देह उत्पन्न होता है कि इन्द्रिय एक है या अनेक ? इसका तात्पर्य यह है कि इस देह में जो इन्द्रिय हैं, उस के स्थान अलग २ हैं, सन्देह यह होता है कि इन स्थानों में एकही इन्द्रिय अवयविरूप से व्यापक है या भिन्न २ स्थानों में भिन्न २ इन्द्रिय काम करते हैं ? एकेन्द्रियवादी कहता हैः—

त्वगव्यतिरेकात् ॥ ५२ ॥ (पूर्वपक्ष)

त्वग् अर्थात् खाल से रहित देह का कोई भाग नहीं या शरीर के किसी भाग या इन्द्रिय में त्वचा का अभाव नहीं है और न कोई इन्द्रिय ऐसा है कि जिसका सहारा त्वचा न हो। यदि खाल का चमड़ा मढ़ा हुवा न हो तो सारे इन्द्रिय और शरीर विकल होजावें और कुछ भी काम न कर सकें, इस लिये त्वचा ही एक इन्द्रिय है। इस का उत्तर देते हैंः—

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ॥ ५३ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि एक त्वचा ही को इन्द्रिय माना जावें, तो सब विषयों का उस से ज्ञान होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि अन्धे को रूप का ज्ञान और बहरे को शब्द का ज्ञान नहीं होता। इस से जाना जाता है कि और भी इन्द्रिय हैं, जिन के होने से उन विषयों का ज्ञान होता है, न होने से नहीं होता। त्वचा से केवल स्पर्श की उपलब्धि होती है, गन्ध, रस, रूप और शब्द का ज्ञान उस से नहीं होता। इससे सिद्ध है कि इन्द्रिय अनेक हैं। इस पर वादी फिर आक्षेप करता हैः—

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः॥५४॥ उ०

जैसे त्वगिन्द्रिय का एक विशेषभाग धूम की उपलब्धि करताहै, ऐसे ही त्वचा का कोई भाग रूपका उपलब्धि कराता है। कोई रस की, कोई शब्द की। उस विशेष भाग के विकृत या नष्ट हो जाने पर अंधेको रूप और बहरे को शब्द की उपलब्धि नहीं होती। इसलिये केवल त्वचा को इन्द्रिय मानने में कोई हानि नहीं। अब इसका खंडन करते हैंः—

आहतत्वादहेतुः ॥ ५५ ॥ (उत्तरपक्ष)

वादीने प्रथम तो यह कहा था कि शरीर का कोई भाग पृथक्

नहीं अर्थात् सब शरीर में व्यापक होने से त्वचा ही एक इन्द्रियहै। अब कहता है कि उसके एक विशेष भाग से धूमादिवत् रूपादि की उपलब्धि होती है। विशेष भागों से विशेष विषयों की उपलब्धि होना और उनके न होने से न होना यह बात विषयग्राहक इन्द्रियों का अनेक होना सिद्ध करती है, जिससे पहला पक्ष खण्डित हो जाता है। इन्द्रियों के स्थान में व्यापक होने से जो त्वचा को एक इन्द्रिय माना है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि सब में फैली हुई होने से ही त्वचा सब का काम कर सकती है तो फिर पृथिव्यादि भूत भी जो सब जगह फैले हुवे हैं और सब इन्द्रियों का आधार भी हैं, इनको ही एक इन्द्रिय क्यों न मान लिया जावे। ऐसा मानना प्रमाण और युक्ति के विरुद्ध है। इस पर एक हेतु और देते हैं :—

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५६ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि त्वचा ही एक इन्द्रिय होती तो एक साथ बहुत से विषयों का ज्ञान होता, क्योंकि वह सब शरीर में व्यापक होने सब विषयों का ज्ञान कराने में समर्थ होती। परन्तु ऐसा नहीं है, इस लिये अनेक हैं। जो लोग त्वचा ही को एक इन्द्रिय मानते हैं, उनके मतानुसार अन्धा, बहरा कोई हो ही नहीं सकता। क्योंकि अन्धे और बहरे को भी त्वचा से रूप और शब्द का ज्ञान हो ही जाता और जिस को रूप और शब्द का ज्ञान हो, उसे अन्धा और बहरा कहना नहीं बन सकता। जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अन्धों और बहरों को रूप और शब्द का ज्ञान नहीं होता तब केवल एकही इन्द्रिय मानना अयुक्त है। इसपर और भी युक्ति देतेहैं :—

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५७ ॥ (उत्तरपक्ष)

विप्रतिषेध होने से भी त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं है। (प्रश्न) विप्रतिषेध किसे कहते हैं ? (उत्तर) जहां दो बराबर शक्तियां परस्पर विरोध करती हैं। (प्रश्न) यहांपर परस्पर विरोध क्याहै ? (उत्तर) यहां विरोध यह है कि आंख से दूरस्थ पदार्थों की उपलब्धि होती है, परन्तु त्वचा से दूर के पदार्थों का स्पर्श नहीं होता यदि त्वचा एक ही इन्द्रिय होती तो उस से दूर की वस्तु का स्पर्श और रूप दोनों का ग्रहण होता या संयुक्त वस्तु के स्पर्श के समान उसको रूप का ज्ञान भी होता, परन्तु रूप का ज्ञान सदा दूर से होता है और स्पर्श का ज्ञान संयोग से। इन में परस्पर विरोध

होने से सिद्ध है कि इन दोनों के ग्राहक इन्द्रिय अलग २ हैं। (प्रश्न) यदि ऐसा माना जावै कि त्वचा में दो गुण हैं (१) संयुक्त वस्तु के स्पर्श को (२) दूरस्थ वस्तु के रूप को ग्रहण करना, तो क्या हानि है ? (उत्तर) यह ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के संयोग विना किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता तो क्या दूरस्थ पदार्थ के रूप को ग्रहण करते समय त्वचा शरीर को छोड़कर उस के पास चली जाती है, कदापि नहीं। नेत्ररश्मि के द्वारा ही दूरस्थ वस्तु के रूप का ग्रहण होता है। अतएव इंद्रिय अनेक हैं। (प्रश्न) प्रायः हम देखते हैं हवा बन्द होजाती है उस समय हवा के होने में क्या प्रमाण है। (उत्तर) हवा सदा रहती है गर्मी से उस में क्रिया होती है तो चलती मालूम होती है वाह्य हवाके साथ नाक में प्रवेश से गन्ध और कान में प्रवेश से शब्द ज्ञात होता है साकार वस्तु के रूप को हवा नेत्र इन्द्रिय तक नहीं पहुंचा सकती इस नेत्र से पदार्थ के संयोग की आवश्यकता है। अब इसपर एक हेतु और देते हैं।

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥ ५८ ॥ (उत्तरपक्ष)

इन्द्रियों के विषय पांच हैं, जिन के नाम ये हैं, शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। त्वचा से केवल स्पर्श का ज्ञान होता है, शब्दादि अन्य चार का नहीं, जिन कान, आंख, जिह्वा, और नासिका से शब्दादि अन्य चार विषयों का ज्ञान होता है, उन का त्वचा से भिन्न होना अनुमानसिद्ध है। उक्त पांचों विषयोंका भिन्न २ पांचों इन्द्रियों से ज्ञान होने और एक के विषय का दूसरे इन्द्रिय से ज्ञान न होने से यह सिद्ध है कि पांच ही ज्ञानेन्द्रिय है, न कि एक। वादी फिर आक्षेप करता है:—

न, तदर्थबहुत्वात् ॥ ५९ ॥ (पूर्वपक्ष)

इन्द्रियों के पांच ही विषय नहीं, किन्तु अनेकहैं, जैसे शीत,उष्ण, कोमल और कठोर आदि भेदों से स्पर्श कई प्रकार का है और लाल पीला, काला और हरा इत्यादि भेदों से रूप भी कई प्रकार का है, ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेदों से शब्द भी कई प्रकार का है। कडुआ, मीठा, खट्टा और तीखा आदि भेदों से रस के भी कई भेद हैं और सुगंन्ध और दुर्गन्ध आदि भेदों से गन्ध भी कई प्रकार का है। जब अर्थ अनेक हैं तो इनके ग्राहक इन्द्रिय भी अनेक होने चाहियें, न कि पांच। अब इसका उत्तर देते हैं :—

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः ६०उत्तरपक्ष

गन्धादि के भेदों को अलग २ गिनकर विषयों का बहुत्व मानना और उससे इन्द्रियबहुत्व की कल्पना करना ठीक नहीं। गन्ध का जो गन्धत्व धर्म है, वह सब गन्धों में सामान्यरूप से विद्यमान है, इसी प्रकार रूपादि के विशेषधर्म अपने २ सामान्यधर्म्म में आ जाते हैं। इसलिये वे सब भेद एक ही इन्द्रिय से ग्रहण किये जातेहैं। जैसे लाल, पीला, काला आदि रूप के भेद एक ही आंख से ग्रहण किये जाते हैं। इन के लिये भिन्न २ इन्द्रियों की आवश्यकता नहींहै ऐसे ही शीतोष्णादि स्पर्श त्वगिन्द्रिय से ग्रहण होते हैं अर्थात् जिस त्वचा से शीतस्पर्श ग्रहण किया जाता है, उसी से उष्णस्पर्श भी। अतएव इन्द्रिय पाँच ही हैं। अब वादी फिर आक्षेप करता है।

विषयत्वाऽव्यतिरेकादेकत्वम् ॥६१॥ (पूर्वपक्ष)

यदि भिन्न २ प्रकार के विषयों को एक जाति मान कर पांच विषय मानते हो तो पांच विषयों की कल्पना क्यों की जाती है, एक ही विषय क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि विषय का जो विषयत्व धर्म है, वह सब विषयोंमें समान है। यदि गन्धत्व के सामान्य से सुगन्ध और दुर्गन्ध एक हैं तो विषयत्व के सामान्य से गन्ध, रस, शब्दादि भी एक हीं हैं। जब विषय एक है, तो फिर उस का ग्राहक इन्द्रिय भी एकही होना चाहिये। इस का उत्तर देते हैं।

न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ६२॥ (उत्तरपक्ष)

बुद्धि ज्ञान को कहते हैं, वह चाक्षुषादि भेदोंसे पांच प्रकारका है, (१) जब ज्ञान पांच प्रकार का है, तब उस के करण भी पांच ही होने चाहियें (२) इन्द्रियों के अधिष्ठान (स्थान) भी पांच ही हैं। (३) गतिभेद भी जिन से विषयों का ज्ञान होता है, पांचही हैं, (४) आकृति भी पांचों इन्द्रियों की भिन्न २ है। (५) जाति (कारण) भी पांच ही हैं, अर्थात् श्रोत्र का आकाश, त्वचा का वायु, चक्षु का अग्नि, जिह्वा का जल और घ्राण का पृथिवी। जब कारण पांच हैं, तब उनका कार्य एक कैसे हो सकता है, अतएव पांच इन्द्रिय हैं, नकि एक। इन्द्रियों का कारण पञ्चभूत हैं, अब यह दिखलाया जाता है।

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥६३॥ (उत्तरपक्ष)

पञ्चभूतों से गन्धादि गुणों की उपलब्धि प्रत्यक्ष देखने में आती है, जैसे वायु से स्पर्श, आकाश से शब्द, अग्नि से रूप, जल से रस और पृथिवी से गन्ध की उपलब्धि होती है और यही भूतों के पांच गुण इन्द्रियों के पांच विषय हैं, इस से सिद्ध है कि इंद्रियों की प्रकृति पांच भूत हैं। जिस इंद्रिय से जिस भूत के गुण का विशेष रीति पर ज्ञान होता है, वह इंद्रिय उसी भूतका कार्य है, यह अनुमानसिद्ध है। इसलिये पञ्चभूत ही पांचों इंद्रियों के कारण हैं। अब इनके गुण दिखलाते हैं।

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्या, अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥६४॥ उत्तरपक्ष

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श ये चार गुण पृथिवी के हैं। रस रूप और स्पर्श ये तीन जल के गुण हैं। रूप और स्पर्श ये दो अग्नि के गुण हैं। स्पर्श वायु का गुण है, और शब्द केवल आकाश का गुण है। अब इस पर शङ्का करते हैं।

न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६५ ॥ (पूर्वपक्ष)

उक्त सूत्रों में जो गुणों का कारण भूतों को बतलाया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि जिस भूत की जिस इन्द्रिय से जिन २ गुणों का सम्बन्ध बतलाया है, उन से उन सब का ज्ञान नहीं होता, जैसे पृथिवी का इन्द्रिय घ्राण है, उस से रस, रूप और स्पर्श का ज्ञान नहीं होता, केवल गन्ध का ज्ञान होता है। इस से रूप, रस और स्पर्श का पृथिवी में होना सिद्ध नहीं होता। ऐसे ही जल के इन्द्रिय रसना से रूप और स्पर्श का ज्ञान नहीं होता, केवल रस का ज्ञान होता है। ऐसे ही तेज की इन्द्रिय आंख से स्पर्श का ज्ञान नहीं होता, केवल रूपका ज्ञान होता है। इस से सिद्ध होता है कि भूतों में केवल एक ही एक गुण है न कि अधिक। इसी की पुष्टि करतेहैं-

एकैकस्यैवोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥ ६६ ॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश क्रम से ये पांच भूत बतलाये गये हैं, ऐसे ही गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द क्रम से इन के पांच ही गुण हैं अर्थात् पृथिवी का गुण गन्ध है, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द गुण है और जो जिस भूत का गुण है, उसी का ज्ञान उस के कार्यभूत

इन्द्रिय से होता है, जैसे घ्राण से गन्ध का, रसना से रस का, आंख से रूप का, त्वचा से स्पर्श का और कान से शब्द का ज्ञान होताहै। यदि एक भूत में एक ही गुण है, तो फिर ६४ वें सूत्र में पृथिवी के चार, जल के तीन और अग्नि के दो गुण क्यों माने गये हैं ? इस का उत्तर देते हैं:-

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् ॥ ६७ ॥ (उत्तरपक्ष)

यद्यपि पृथिवी मे अपना एकही गुण गन्ध है, तथापि उस में जल, अग्नि और वायु के परमाणु मिले हुए हैं, इस लिये इन का संसर्ग होने से इनके गुण भी उस में माने गये हैं। वस्तुतः कार्य-रूप पृथिवी में ही ये चार गुण पाये जाते हैं, कारणरूप में नहीं। इसी प्रकार कार्यरूप जल में ही तीन गुण माने गये हैं कारणरूप में नहीं। कारणरूप द्रव्यों में संसर्ग न होने से केवल अपना ही गुण रहता है। इन का संसर्ग अनियम है, या नियमपूर्वक ? इस का उत्तर देते हैं:—

विष्टं ह्यपरं परेण ॥ ६८ ॥ (उत्तरपक्ष)

पृथिवी आदि पञ्चभूतों में पहला २ पिछले २ से मिला हुआ है अर्थात् पहला पृथिवी पिछले जल तेज और वायु से मिली हुई है। इसी प्रकार पहला जल, तेज और वायु से और पहला तेज, वायु से मिला हुआ है। इस संयोग के कारण ही कार्यदशा में अपने गुण के सिवाय अन्य गुण भी इन में उपलब्ध होते हैं। अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६९ ॥ (पूर्वपक्ष)

पृथिव्यादि भूतों में एक २ गुण नहीं है, क्योंकि यदि एक ही एक गुण होता तो इन में उसी का प्रत्यक्ष होता न कि अन्य गुण का। यथा पृथिवी में गन्ध का और जल में रस का प्रत्यक्ष होता, अग्नि के गुण रूप या वायु के गुण स्पर्श का इन में प्रत्यक्ष न होना चाहिये था। क्योंकि जब कारणरूप पृथिवी और जल में रूप नहीं है, तो कार्य रूप में कहां से आगया। कारण के विरुद्ध कार्य में कोई धर्म नहीं आ सकता। अतएव पार्थिव पदार्थों में गन्ध के अतिरिक्त रस रूप और स्पर्श का प्रत्यक्ष होने से, आप्य पदार्थों में रस के अतिरिक्त रूप और स्पर्श का प्रत्यक्ष होने से और तैजस पदार्थों में रूप के अतिरिक्त स्पर्श का प्रत्यक्ष होने से एक भूतों में

अनेक गुणों का होना सिद्ध है। और यह जो हेतु दिया गया है कि अन्य भूतों के संसर्ग से उन के गुणों का प्रत्यक्ष होता है, ठीक नहीं, क्योंकि यदि वायु के संसर्ग से आग्नेय पदार्थों में स्पर्श की उपलब्धि होती है तो अग्नि के संसर्ग से वायव्य पदार्थों में रूप की उपलब्धि क्यों नहीं होती। क्योंकि संसर्ग दोनों का समान है। इसके अतिरिक्त रस पार्थिव और आप्य दोनों प्रकार के पदार्थों में पाया जाता है; परन्तु पार्थिव द्रव्यों में ६ प्रकार का रस होता है, आप्य में केवल एक ही प्रकार का मधुर रस होता है। इसी प्रकार पार्थिव द्रव्यों में हरा, लाल, पीला, काला आदि अनेक प्रकार का रूप होता है, जल में केवल एक ही प्रकार का रूप देखा जाता है। इस लिये यह कथन कि भूतों के परस्पर संसर्ग से एक दूसरे के गुण उन में पाये जाते हैं, ठीक नहीं। अब इस का उत्तर देते हैं:-

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥ ७० ॥ (उत्तरपक्ष)

पृथिवी के चार गुण बतलाये गये हैं, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श इन में पहला गन्ध उत्कृष्ट होने से प्रधान है, इतर रस, रूप और स्पर्श गौण होने से अप्रधान और ऐसे ही रस, रूप और स्पर्श ये तीन गुण जल के हैं, जिन में पहला रस प्रधान और दूसरे दो अप्रधान हैं। एवं तेज के रूप और स्पर्श इन के गुणों में पहला रूप प्रधान है. दूसरा स्पर्श अप्रधान। बस इन में जो जिस का प्रधान गुण है, वही उस के इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, अन्य नहीं। यही कारण है कि एक इन्द्रिय से अनेक गुणों का ग्रहण नहीं। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ॥ ७१ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिस भूत का जिस इन्द्रिय के साथ अधिक सम्बन्ध है, उसी भूत के गुणों का उस इन्द्रिय से ज्ञान होता है और वह इन्द्रिय उसी भूत का कार्य समझा जाता है। जैसे तेज से चक्षु की शक्ति बढ़ती है, इस लिये वह तेज का ही कार्य समझा जाता है। बस अधिक सम्बन्ध होने के कारण ही इन्द्रिय अपने कारण विषय को ग्रहण करते हैं, दूसरों के विषयों को नहीं। अपने२ गुणों को इन्द्रिय उनकी सहायता से ही ग्रहण कर सकते हैं:—

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७२ ॥ (उत्तरपक्ष)

घ्राणादि इन्द्रिय जब कि पृथिव्यादि भूतों का कार्य हैं, तो उन

में भी गन्धादि गुण विद्यमान है, फिर विना किसी वाह्य वस्तु की विद्यमानता के उन में गन्धादि की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? इस का उत्तर यह है कि अपने गुणों के सहित ही घ्राणादि में इन्द्रियत्व है, यदि गुणों को अलग कर दिया जाय तो फिर उनमें इन्द्रियत्व धर्म ही न रहे। क्योंकि घ्राण अपने गुण गन्ध की सहायता से ही वाहर के गन्ध को ग्रहण करता है। यदि उसे अपने सहचारी गन्ध की सहायता न हो तो वह कभी उस का ग्रहण न कर सके। क्या कारण है कि इन्द्रिय अपने आन्तरिक गुणों को ग्रहण नहीं करते; किन्तु वाह्य गुणों को ग्रहण करते हैं ? इसका उत्तरः—

तेनैव तस्याऽग्रहणाच्च ॥ ७३ ॥ (उत्तरपक्ष)

सहायक के न होने से इन्द्रिय अपने स्वरूप को अथवा आन्तरिक गुणों को ग्रहण नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि कोई वस्तु विना वाहर की सहायता के अपने को ग्रहण नहीं कर सकती। जैसे आंख अपने वाहर के पदार्थों को देख सकती है, भीतर के नहीं। हाथ वाहर के पदार्थों को पकड़ सकता है, भीतर के नहीं। अतएव केवल उस ही से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। इस पर वादी शङ्का करता है :—

न, शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७४ ॥ (पूर्वपक्ष)

यह वात ठीक नहीं कि इन्द्रिय अपने गुण को ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि कान अपने गुण शब्द को ग्रहण करते हैं, अर्थात् जब कान वन्द कर लिये जाते हैं तो वे भीतर के शब्द को सुनते हैं। अब इसका उत्तर देते हैं :—

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७५ ॥ (उत्तरपक्ष)

रूपादि गुणों के ग्रहण में सहायक पदार्थ वाहर रहते हैं और शब्द का सहायक आकाश भीतर वाहर सव जगह मौजूद है। इस लिये शब्द के समान रूपादि गुणों को विना वाह्य सहायता के इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकते।

इन्द्रियपरीक्षाप्रकरण समाप्त हुवा।

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

पिछले आन्हिक में आत्मा, शरीर और इन्द्रियों की परीक्षा कर के अब बुद्धि की परीक्षा आरम्भ करतेहैं। पहले इस बातका विचार करते हैं कि बुद्धि नित्य है वा अनित्य ?

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥ (पूर्वपक्ष)

कर्म और आकाश के समान बुद्धि में भी स्पर्शत्व धर्म नहीं है, परन्तु इन दोनों में कर्म अनित्य और आकाश नित्य है, अब यह सन्देह होता है कि बुद्धि कर्म के समान अनित्य है अथवा आकाश के समान नित्य ? दूसरा सन्देह का कारण यह भी है कि कहीं पर तो शास्त्र में आत्मगुण होने से बुद्धि को नित्य बतलाया गया है और कहीं इन्द्रिय और अर्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेके कारण उसको अनित्य कहागया है, इनमें कौनसा पक्ष ठीक है ! प्रथम बुद्धि का नित्यत्व स्थापन करते हैं :—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥ (पूर्वपक्ष)

किसी देखी हुई वस्तु को देखने से जो यह स्मरण होता है कि यह वही वस्तु है, जिस को मैंने पहले देखा था, इस को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं इस प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध होता है कि बुद्धि नित्य है। यदि बुद्धि नित्य न होती तो उसमें प्रत्यभिज्ञा कभी हो ही नहीं सकती। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न हो कर नष्ट होजाते, फिर उन का स्मरण कैसेहोता, अतएव बुद्धि नित्य है। अब इसका खण्डन करते हैं :—

साध्यसमत्वादहेतु ॥ ३ ॥ (उत्तरपक्ष)

वादी ने जो प्रत्यभिज्ञा को बुद्धि का धर्म मानकर हेतु दिया है, वह साध्य होने से ही ठीक नहीं, क्योंकि जैसे बुद्धि का नित्य होना साध्य है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञा का बुद्धि धर्म होना भी साध्य है। एक साध्य सिद्धि में दूसरे साध्य का हेतु देना साध्यसम–हेत्वाभासहै। वादी को चाहिये था कि पहले प्रत्यभिज्ञा को बुद्धि का धर्म सिद्ध करलेता, तब उसको हेतु में रखता। अस्तु, प्रत्यभिज्ञा बुद्धि का धर्म नहीं है, किन्तु वह चेतन जीवात्मा का धर्म है, जीवात्मा ही किसी ज्ञात विषय का बुद्धि के द्वारा स्मरण करता है। (प्रश्न) ज्ञान जीवात्मा का धर्म नहीं, किन्तु अन्तःकरण का धर्महै। (उत्तर)

ज्ञान अन्तःकरण का धर्म नहीं, किन्तु जीवात्मा का धर्म है, अन्तः करण तो केवल साधनमात्र है। यदि ज्ञान अन्तःकरण का धर्म माना जावे तो चेतन का क्या धर्म होगा? चेतना, ज्ञान स्मृति ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं, इन का कारण केवल जीवात्मा है, हां मन, बुद्धि आदि उसके उपकरण हो सकते हैं। (प्रश्न) यदि यह माना जावे कि बुद्धि जानती है तो इस में क्या दोष है? (उत्तर) बुद्धि और ज्ञान दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं और ये गुण हैं न कि द्रव्य। गुण सदा द्रव्य में रहता है, गुण में गुण नहीं रहता। इन में द्रव्य केवल जीवात्मा है, इस लिये सब उसी के गुण हैं, जिस प्रकार आंख से जीवात्मा देखता है, कान से सुनता है, इसी प्रकार मनसे मनन करता और बुद्धि से जानता है। यदि आंख और कान द्रष्टा और श्रोता नहीं तो मन मन्ता और बुद्धि ज्ञाता कैसे हो सक्ती है? इसलिये बुद्धि जनाती है और आत्मा जानता है, यही सिद्धान्त है। अतएव वादी ने बुद्धि के नित्य होने में जो हेतु दिया था, वह साध्यसम होनेसे जब अहेतु ठहरा तब बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है। अब जो लोग बुद्धि को स्थिर मानकर उस की वृत्तियों को चल मानते हैं और वृत्ति और वृत्तिमान में भेद नहीं करते, उनका खण्डन करते हैं।

न, युगपदग्रहणात् ॥ ४॥ (उत्तरपक्ष)

यदि वृत्ति (बुद्धि की किरणें) और वृत्तिमान् (बुद्धि) में अभेद मानाजावे तो बुद्धि के स्थिर होने से वृत्तियां भी स्थिर माननी पड़ेगी और वृत्तियों के स्थिर होने से एक समय में अनेक विषयों का ज्ञान होना चाहिये, परन्तु यह असम्भव है, इसलिये वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं होसकते। फिर इसी आशय की पुष्टि करते हैं:-

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रत्यभिज्ञान के निवृत होने पर वृत्तिमान् का भी नाश मानना पड़ेगा और ऐसा होने पर अंतः करण भी न रहेगा, क्योंकि वादी वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद नहीं तब वृत्ति के नष्ट होनेपर वृत्तिमान् क्योंकर रह सकेगा। अतएव ये दोनों एक नहीं हो सकते। अब एक समयमें अनेक ज्ञानों के न होने का कारण कहते हैं:—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ॥ ६॥ (उत्तरपक्ष)

मन परिच्छिन्न होने से एक देशी है, इसलिये एक ही वार उस का सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, जिस के

कारण सब इन्द्रियों के विषयों का एक साथ ज्ञान नहीं होता। जब इन्द्रिय के साथ मन मिलता है, तब उसी के विषय का ज्ञान होता है और जिसके साथ नहीं मिलता उसका ज्ञान नहीं होता। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं।

अप्रत्यभिज्ञानञ्च विषयान्तरव्यासङ्गात् । ७।। उत्तरपक्ष

जब मन किसी इन्द्रिय के विषय में लगा हुवा होता है तब उस को किसी दूसरे इन्द्रिय के विषय का ज्ञान नहीं होता । मनकी लगावट ही विषयों के ज्ञान का कारण है, इस से भी वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद सिद्ध है, अन्यथा एक मानने से लगावट नहीं हो सकती। अब मन के विभुत्व का खण्डन करते हैं।

न, गत्यभावात् ॥ ८ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि मन को सारे देह में व्यापक माना जावे तो उस में गति का होना अर्थात् एक इन्द्रिय को छोड़कर दूसरे में जाना नहीं हो सकेगा, क्योंकि विभु पदार्थ सब में एक रस व्यापक होता है, परन्तु मन का इन्द्रियों से संयोग होता है, इस लिये विभु मानना ठीक नहीं। अब वादी वृत्ति का एकत्व स्थापन करता है।

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तादन्यत्वाभिमानः ।।९। पूर्वपक्ष

जैसे लाल, पीले, हरे आदि रंगवाले पदार्थों के संयोग से स्फटिक वैसा ही दीख पड़ता है, वास्तव में स्फटिक न लाल है, न पीला, न हरा, किन्तु वह श्वेत है, ऐसे ही भिन्न २ विषयों के संसर्ग से वृत्ति भी अनेक प्रकार की सी उपलक्षित होती है, वास्तव में वृत्ति एक ही है। अब इस का उत्तर देते हैं।

न हेत्वभावात् ॥ १० ॥ (उत्तरपक्ष)

स्फटिक का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह अहैतुक होनेसे ठीक नहीं, क्योंकि स्फटिक में लाल पीले हरे आदि रंग की भ्रान्ति होती है, नकि ज्ञान, जब भ्रान्ति का कारण मालूम होजाता है, तब कोई भी स्फटिकको लाल, पीला या हरा नहीं समझता। परन्तु इन्द्रियों से जो विषयों का ज्ञान होता है, वह निश्चित और सर्वत्र एकसा उपलब्ध होता है, उस में कहीं भ्रान्ति या सन्देह नहीं होता क्योंकि भ्रान्तियुक्त या संदेहात्मक होने से वह प्रमाण ही नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त साकार होने से स्फटिक में दूसरी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़सकता है, परन्तु बुद्धि निराकार है, उसमें किसी का

प्रतिबिम्ब नहीं पड़सकता। अतएव अहेतुक होने से यह दृष्टान्त वृत्ति और वृत्तिमान् को एक सिद्ध नहीं कर सकता।

अब क्षणिकवादी शङ्का करता है :—

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः ११

(पूर्वपक्ष)

यह जो कहा था कि स्फटिक एक ही होता है, परन्तु भिन्न २ रङ्ग के फूलों का प्रतिबिम्ब पड़ने से उस में अनेकत्व की भ्रान्ति होती है, वास्तव में वह अपने स्वरूप से अवस्थित है, क्षणिकवादी इस का खण्डन करता है और कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति के क्षणिक होने से उत्पत्ति और विनाश होता रहता है। स्फटिक भी क्षणिक है, इसलिये उस में नई व्यक्ति उत्पन्न होती रहती हैं और पुरानी नष्ट। (प्रश्न) तुम्हारे इस क्षणिकवाद में क्या प्रमाण है ? (उत्तर) शरीर के अवयव सदा बदलते रहते हैं, कभी दुबले होते हैं ! कभी मोटे, जिस से प्रतिक्षण शरीर में वृद्धि और ह्रास होता रहता है, जहां वृद्धि हो रही है, वहीं उत्पत्ति है और जहां ह्रास है, वहीं विनाश हैं, भोजन का परिपाक होकर रस रक्त में परिणित होना कहीं शरीर की उन्नति और कहीं अवनति का कारण है, तौल में अन्तर होने के कारण भी वृद्धि और ह्रास का पता लगता है, सूक्ष्म और क्रमशः होने के कारण हम इस परिवर्त्तन को मालूम नहीं कर सकते, परंतु प्रतिक्षण यह परिवर्त्तन हो रहा है, देह के ही समान प्रत्येक वस्तु क्षणिक है अब इसका उत्तर देते हैं।

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥१२॥ उत्तरपक्ष

यद्यपि ज्ञानमें भेद होना वृत्ति वृत्तिमान्का एक न होना ठीकहै, तथापि स्फटिक को क्षणिक मानकर जो भेद का खण्डन किया गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि सब वस्तुओं में वृद्धि और ह्रास का नियम एकसा नहीं है। (प्रश्न) एकसा नियम न होने में क्या प्रमाण है ? (उत्तर) नियम होने में किसी प्रमाण का न होना ही न होने का प्रमाण है । यदि नियम होता तो उसकी सिद्धि में कोई प्रमाण है अवश्य होता । जब कोई नियामक हेतु नहीं है तो जैसा देखा जावे, वैसा ही मानना चाहिये। जिसमें वृद्धि और ह्रास के चिन्ह देखे जावें, जैसे देहादि, उन में वृद्धि और ह्रास मानना चाहिये और जिन पदार्थों में ये चिन्ह अवगत न हों, जैसे सोना,

लोहा, पत्थर आदि उनमें भी क्षणिक वृद्धि और ह्रास का मानना ठीक नहीं, स्फटिक में भी क्षणिक वृद्धि और ह्रास नहीं देखे जाते, इसलिये देहवत् उसको भी क्षणिक मानना ठीक नहीं। इस पर एक हेतु और देते हैं।

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥१३॥ (उत्तरपक्ष)

जैसे देहादि के उत्पत्ति और विनाश के कारण उपलब्ध होते हैं, अर्थात् वृद्धि उत्पत्ति का कारण और क्षय नाश का कारण समझा जाता है, ऐसे स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश के कारण प्रत्यक्ष नहीं देखे जाते, अतः उनको भी देहादिवत् क्षणिक मानना ठीक नहीं। अब इस पर आक्षेप करते हैं।

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः ॥ १४ ॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे दूध नाश होकर जब दही बन जाता है तो दूध के नाश का कारण और दही की उत्पत्ति का कारण ज्ञात नहीं होता। परंतु तो भी दही की उत्पत्ति और दूध का नाश माना जाता है, ऐसे ही विना कारण के जाने भी स्फटिक में पहिली व्यक्ति का नाश और पिछली व्यक्ति की उत्पत्ति माननी चाहिये। इसका उत्तर देते हैं :—

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १५ ॥ (उत्तरपक्ष)

दूध का नाश और दही की उत्पत्ति ये दोनों कार्य्य प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, इस लिये इन के कारण का अनुमान किया जा सक्ता है। किन्तु स्फटिक में पहिली व्यक्ति के नाश और दूसरी की उत्पत्ति का कोई चिन्ह नहीं पाया जाता, जिससे उनके कारण का अनुमान किया जावे। विना प्रत्यक्ष के जो अनुमान किया जाता है वह, ठीक नहीं होता। इस लिये दूध और दही का दृष्टान्त ठीक नहीं। अब पुनः शङ्का करते हैं :—

न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥१६॥ पूर्वपक्ष

परिणाम होने से दूध की दशा बदल जाती है, उस का नाश नहीं होता।

(प्रश्न, परिणाम किसे कहतेहैं? (उत्तर) किसी वस्तुमें पहले गुणों का नाश और नये गुणोंका प्रादुर्भाव होना नाश कहाताहै। (प्रश्न)

नाश किसे कहते हैं ? (उत्तर) कार्य से कारणरूप हो जाना नाश कहलाता है। (प्रश्न) परिणाम और नाश में क्या भेद है ? (उत्तर) परिणाम में तो वस्तु के कुछ गुण विद्यमान रहते हैं, कुछ निकल जाते हैं और कुछ नये आजाते हैं, परन्तु नाश में वस्तु के सब अङ्ग छिन्न भिन्न होकर कारणरूप हो जातेहैं। अब इसका उत्तर देतेहैं:—

व्यूहान्तराद् द्रव्योत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥ १७ ॥ (उत्तरपक्ष)

पहला शरीर जिन परमाणुओं से बना था, उनका निकल जाना और दूसरे परमाणुओं का उनके स्थान में आजाना एक प्रकारका विनाश और उत्पत्ति ही है। जैसे जिन परमाणुओं से एक मट्टीका गोला बना था, जब उस से न्यूनाधिक होकर घड़ा या थाली आदि बन जाती हैं तो उस गोले का नाश और घड़े या थाली की उत्पत्ति मानी जाती है, ऐसे ही दूध का नाश और दही की उत्पत्ति भी मानना चाहिये। अतः परिणाम उत्पत्ति और विनाश का बाधक नहीं हो सकता। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ १८ ॥ (उत्तरपक्ष)

कहीं तो नाश के कारण का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, जैसा घटादि में देखा जाता है कि डंडा या ईंट लगी और घड़ा फूट गया और कहीं नाश का कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे दूध के नाश को कारण इन्द्रियों से नहीं जाना जाता। इस लिये स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश सिद्ध करने के लिये दूध और दही का दृष्टान्त देना अनेकान्त (व्यभिचार) होने से माननीय नहीं हो सकता। बुद्धि वृत्ति की अनेकता और अनित्यत्व सिद्ध करके अब यह विचार किया जाता है कि यह ज्ञान किस का गुण है ? जो कि ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, इस लिये प्रथम इसी का निषेध करते हैं कि ज्ञान इन्द्रियों का गुण है ?.

ज्ञानेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात्॥१९॥(उ०)

ज्ञान न तो इन्द्रिय का गुण है और न अर्थ का, क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के नाश होने पर भी ज्ञान मौजूद रहता है अर्थात् जब इन्द्रिय और अर्थ नहीं रहते तब भी मैंने यह देखा था, या सुना था इत्यादि स्मरण होता है, इस से जाना जाता है कि ज्ञान इन्द्रिय या

अर्थका गुण नहीं किन्तु जो इन्द्रियों के द्वारा अर्थों को ग्रहण करता है, उस का गुण है। मन का गुण होना अगले सूत्र से निषिद्ध है:-

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ २० ॥ (उत्तरपक्ष)

एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इस से सिद्ध है कि ज्ञान मन का भी गुण नहीं है, क्योंकि यदि मन का गुण होता तो एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति होने में कोई कारण बाधक नहीं हो सकता था। (प्रश्न) जब कि मन के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने से उस के विषय का ज्ञान होता है और न होने से नहीं होता इस से सिद्ध है कि ज्ञान मन ही का गुण है। (उत्तर) इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है, वह दोनों में से एक के भी न होने पर नहीं हो सकता। इस लिये मन और इन्द्रिय दोनों ज्ञान के कारण हैं न कि कर्त्ता या ज्ञाता। जैसे हाथ और कुल्हाड़ी से लकड़ी कटती है, परन्तु हाथ और कुल्हाड़ी दोनों काटने के साधन हैं, अतएव ज्ञान [बुद्धि] मन का गुण नहीं, किन्तु मन के अधिष्ठाता आत्मा का गुण है:—(प्रश्न) यदि हम ज्ञान को मन का गुण मानें तो क्या दोष होगा ? (उत्तर) यदि ज्ञान मन का गुण माना जावे तो मन फिर अन्तःकरण न रहेगा, किन्तु ज्ञाता हो जायगा। यदि अन्तःकरण को ज्ञाता माना जावे तो फिर बहिष्करण इन्द्रियों को भी ज्ञाता मानना पड़ेगा। अनेक ज्ञाताओं के होने से फिर ज्ञान का प्रतिसन्धान या प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। अतएव ज्ञान मन का गुण नहीं। (प्रश्न) ज्ञान जिसका गुण है वह आत्मा है सुख दुख जानने का साधन मन है इनमें नाम का ही भेद है (उत्तर) जिनका मन स्थिर नहीं उनको एक साथ अनेक पदार्थों का ज्ञान नहीं होता पर योगी को समाधि सिद्धि में ज्ञान होता है इससे इस प्रकार का ज्ञान विभु आत्मा को होता है अणु को नहीं। (प्रश्न) यदि हम मन को अणु न मानें, किन्तु विभु मानें तो क्या दोष है ? (उत्तर) जब मन विभु अर्थात् सारे देह में व्यापक है, तो मन का सब इन्द्रियों के साथ एक काल में सम्बन्ध होने से सब विषयों का एक साथ ज्ञान होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता, इस से मन का शरीर में अणु होना सिद्ध है। इस पर वादी आक्षेप करता है:—

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २१ ॥ (पूर्वपक्ष)

जब ज्ञान सारे देह में रहने वाले आत्मा का गुण माना जावेगा

तो भी वही दोष आवेगा जो मन को विभु मान कर ज्ञान को उसका गुण मानने में आता है। क्योंकि आत्मा के सारे देह में व्यापक होने से सब इन्द्रियों के साथ एक समय में उस का सम्बन्ध होगा और ऐसा होने से एक साथ सब विषयों का ज्ञान होना चाहिये। इस का उत्तर देते हैं:-

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः॥२२॥ (उत्तर०)

विभु होने से यद्यपि आत्मा का सारे शरीर के साथ सम्बन्ध है, तथापि इन्द्रिय और मन का संयोग न होने से एक काल में अनेक विषयों का ज्ञान नहीं होता। मन का अणु होना सिद्ध हो चुका है, इस लिये उसका एक समय में सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतएव एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इस पर वादी पुनः आक्षेप करता है:-

नोत्पत्तिकारणानपदेशात्॥ २३॥ (पूर्वपक्ष)

बुद्धि की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बतलाया, मन और इन्द्रियों का संयोग केवल ज्ञान का उद्बोधक है न कि उत्पादक, जब बुद्धि का कोई उपादान नहीं और उसको नित्य एवं विभु आत्मा का गुण बतलाया है, तो उसके नित्य होने में सन्देह क्या है? इसी आक्षेप की पुनः पुष्टि करते हैं:—

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः॥२४॥

बुद्धि अर्थात् ज्ञान के नाश होने का भी कोई कारण मालूम नहीं होता, इस से भी बुद्धि का नित्य होना ही सिद्ध होता है। यदि नित्य न हो तो फिर नित्य आत्मा का गुण कैसे होसके? गुणका नाश दो प्रकार से होता है, एक तो गुणी के नाश होने से, दूसरे गुणी में किसी विरोधी गुण के आजाने से। जब बुद्धि आत्मा का गुण है तो न तो कभी आत्मा का नाश हो सकता है और उस के एकरस होने से उस में कोई विरोधी गुण भी नहीं आसकता। अतएव प्रतिवादी को या तो बुद्धि को नित्य मानना पड़ेगा या उसके आत्मगुण होने से इन्कार करना पड़ेगा। अब इसका उत्तर देते हैं:—

अनित्यत्वाद्बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत्॥२५॥(पू०)

बुद्धि अनित्य है, इस को प्रत्येक विचारशील पुरुष जानता है, क्योंकि शब्द के तुल्य बुद्धि बुद्धि की उत्पत्ति और विनाश के कारण देखे जाते हैं, जैसे पहले उच्चारण किये हुये शब्द नष्ट और पिछले

उच्चारित उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही पहला ज्ञान नष्ट होकर पिछला उत्पन्न होता है। यदि बुद्धि नित्य होती तो कोई ज्ञान कभी नष्ट न होता, किन्तु सब ज्ञान सब काल में एक से बने रहते। ऐसा होने पर स्मृति और प्रत्यभिज्ञा इन सब का लोप हो जाता। अतएव बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है। दूसरा वादी कहता है:—

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥ (पूर्वपक्ष)

ज्ञान के संस्कारों से युक्त आत्मा के भागों के साथ क्रमशः मन का सम्बन्ध होने से स्मृति की उत्पत्ति होती है, यही कारण है कि एक साथ बहुतसी स्मृतियां उत्पन्न नहीं होती। अब इसका उत्तर देते हैं।

नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २७ ॥ (उत्तरपक्ष)

आत्मा के विशेष भागों से मनका सम्बन्ध होने से ज्ञान और स्मृति की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं, क्योंकि यदि आत्मा और मन के सम्बन्ध से स्मृति होती तो मन के शरीरान्तवर्त्ती होने से और आत्मा के सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होने से मनके साथ निरन्तर आत्मा का सम्बन्ध रहना चाहिये जिससे स्मृति में भी नैरन्तर्य की प्रसक्ति होगी और यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, इसलिये आत्मा और मन के संयोग से स्मृति का मानना ठीक नहीं। इस पर फिर शङ्का करते हैं।

साध्यत्वादहेतुः ॥ २८ ॥ (पूर्वपक्ष)

कर्मफल भोगने के लिये जो संस्कार हैं, यदि केवल संस्कार ही जीवन माने जावें और इन संस्कारों से युक्त आत्मा के भागों के साथ मन का सम्बन्ध होने से स्मृति उत्पन्न होती है तो कोई हेतु इस का कि शरीर के भीतर ही आत्मा और मन का सम्बन्ध होता है, बाहर नहीं, मौजूद नहीं है, इस लिये शरीर के भीतर ही आत्मा मनका संयोग होना साध्य है, फिर वह हेतु क्योंकर हो सकता है ? इस का उत्तर देते हैं।

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥ उत्तरपक्ष

शरीर की विद्यमानता में ही स्मृति होती है, यह मानना पड़ेगा कि शरीर के भीतर ही आत्मा और मन के सम्बन्ध से स्मृति होती है। यदि मन शरीर के भीतर न होता तो शरीर की स्थिति कैसे

होती ? आत्मा और मनके संयोग से जो प्रयत्न उत्पन्न होता है, वह दो प्रकार का है, एक धारक दूसरा प्रेरक। धारक शरीर को धारण करता है, प्रेरक इन्द्रियों को प्रेरणा करता है। यदि मनका वाहर के आत्मा से सम्बन्ध होकर स्मृति उत्पन्न होती तौ धारक शक्ति के न होने से वोझ के कारण शरीर गिरपड़ता, क्योंकि उस धारकशक्ति का आधार मन तो शरीर के वाहर है। इस लिये मन का आत्मा के साथ शरीर के भीतर ही सम्बन्ध होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है। इस पर फिर आक्षेप करते हैं।

न, तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ ३० ॥ (पूर्वपक्ष)

मन अत्यन्तही शीघ्रगामी है, इसलिये वह वाहर जाकर आत्मा से संयुक्त होता है, और फिर शीघ्र ही शरीर के भीतर आजाता है। और चेष्टा करता है, इस कारण शरीर वोझ से नहीं गिरता। इस प्रकार मन वाहर और भीतर आत्मा से सम्बन्ध रखता है, अब इस का उत्तर देते हैं।

न, स्मरणकालानियमात् ॥ ३१ ॥ (उत्तरपक्ष)

मन को शीघ्रगामी मानकर वाहर आत्मा के साथ भी उसका सम्बन्ध मानना ठीक नहीं। क्योंकि स्मरण करने का समय नित्य नहीं। अर्थात् कोई वात शीघ्र स्मरण हो आती है कोई देरसे। जब कोई वात देरसे स्मरण होती है तो स्मृति की इच्छा से मन सोचने लगता है और यह सोचना स्मृति का कारण होता है अर्थात् बहुत देर तक सोचने से स्मरण आता है। जब देर तक मन शरीर से वाहर आत्मा से संयुक्त हुवा सोचता रहता है, तब शरीर गिर-पड़ना चाहिये और विना शरीर के सम्बन्ध के केवल आत्मा और मनका सम्बन्ध स्मृति का कारण नहीं होसकता, क्योंकि शरीर आत्मा के सुख दुःख भोगने का स्थान है, उससे वाहर निकला हुवा मन आत्मा के सुख दुःख का कारण नहीं हो सकता। (प्रश्न) यदि हम यह माने कि केवल आत्मा और मन के सम्बन्ध होने से ही सुख दुःख का भोग होता है तो क्या हानि है? (उत्तर) इस दशा में शरीर की कोई आवश्यकता ही न रहेगी, इसलिये जैसे सुखादि आत्मा के भीतर होने की दशा में ही अनुभव किये जाते हैं, ऐसे ही स्मृति भी आत्मा और मन के शरीर के अन्दर होने से ही होती है। इस पर और हेतु देते हैं।

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥ ३२ ॥

(उत्तरपक्ष)

शरीर के बाहर आत्मा और मन का संयोग तीन ही प्रकार से मानोगे (१) या तो आत्मा अपनी इच्छा से शरीर के बाहर मन से संयोग करे (२) या अचानक हो जावे (३) या मन के ज्ञाता होने से हो। परन्तु ये तीनों प्रकार के सम्बन्ध असम्भव हैं (१) जब किसी वस्तु को जानकर आत्मा मन को प्रेरणा करेगा, तो इस दशा में प्रेरणा से पहिले ही वह वस्तु स्मृति होगई, फिर उसका स्मरण कैसा ? (२) अचानक स्मरण करना भी नहीं कह सकते, क्योंकि जब आत्मा किसी वस्तु को स्मरण करने की इच्छा करता है, तभी उस का स्मरण होता है, (३) मन को चेतन (ज्ञाता) मानकर स्मरण की कल्पना करना भी ठीक नहीं, क्योंकि मन अचेतन और ज्ञान रहित है। इसका समाधान करते हैं।

व्यासक्तमनसः पादव्यथने संयोग विशेषेण समानम्।

(उत्तरपक्ष)

जब किसी विचार में मन लगाहुआ हो, और दूसरी किसी बात का ध्यान न हो उस समय भी पैर में कांटा चुभाने से तत्काल उसे दुःख का अनुभव होता है। यह आत्मा और मन का विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। ऐसा ही तीव्र स्मरणीय वस्तु के योग में होता है। (प्रश्न) पैर में कांटा लगने से आत्मा की इच्छा कहना ठीक नहीं भोग से ऐसा हुआ। (उत्तर) यदि भोगसे चोट लगना कहते हो तो स्मृति को भी भोग जन्य मानलो वह भी प्रदृष्ट योगसे हुई अतः आत्मा की प्रेरणा से निषेध करना ठीक नहीं। अब एक साथ अनेक स्मृति न होनें का कारण कहते हैं।

प्रणिधानलिङ्गादि ज्ञानानामयुगपद्भावाद् युगपदस्मरणम् ॥ ३४ ॥ (उत्तरपक्ष)

जैसे आत्मा और मन का संयोग तथा संस्कार स्मृति के कारण होते हैं ऐसे ही चित्त की एकाग्रता और स्मर्त्तव्य विषय के लिंग आदि भी स्मृति का कारण हैं, जब वे एक साथ नहीं होते तो फिर उन से होने वाली स्मृतियां एक साथ कैसे हो सकती हैं। अब इस का विशेष दशाओं में अपवाद कहते है।

प्रातिभवत्त प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्त्ते यौगपद्यप्रसङ्गः ३५

(प्रश्न) स्मर्तव्य लिङ्ग न होने से आकस्मिक ज्ञान कब होता है। (उत्तर) जब अल्पज्ञान से स्मृति के कारण का ठीक २ ज्ञान नहीं होता और स्मृति होती है। स्मृति में ज्ञान न होने की वजह से प्रत्यभिज्ञा के समान अभिमान होता है। आशय यह है कि बहुत वस्तुओं के याद करने में जब सोचने बैठते हैं तो कोई वस्तु याद आने का कारण होती है दोबारा सोचने से याद आजाती है ज्ञाता शीघ्र स्मरण आजाने से कारण को नहीं जानता इसलिये प्रत्यभिज्ञा के समान अभिमान होता है। (प्रश्न) प्रत्यभिज्ञा से उत्पन्न ज्ञान आकस्मिक बहुत सी वस्तुओं को होता है उस को निषेध कैसे करोगे। (उत्तर) एक समय में दो कर्मों का भोग नहीं होसकता इसी प्रकार ज्ञान भी एक काल में दो नहीं होसकते। (प्रश्न) एक समय में दो का ज्ञान नहीं होता इस में कौन युक्ति है। (उत्तर) धन द्वारा ज्ञान होता है वह साधन मन है वह एक काल में दो ज्ञान नहीं उत्पन्न करसकता, मन के शीघ्र गामी होने से क्रम नहीं ज्ञात होता। (प्रश्न) उपभोग के अनुसार नियम करना ठीक नहीं। (उत्तर) साधन क्रमानुसार ही ज्ञान उत्पन्न कराते हैं, अतः दो ज्ञान एक साथ नहीं होसकते।

कोई २ ज्ञान ऐसे हैं कि जिनमें चित्त की एकाग्रता, या स्मर्त्तव्य लिङ्गों की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु वे आकस्मिक होते हैं, जैसे प्रातिभ ज्ञान जो प्रतिभा (बुद्धि की स्फूर्ति) से उत्पन्न होता है, वह अकस्मात् ही उत्पन्न हो जाता है, इस प्रकार के आकस्मिक ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति हो सकती है, परन्तु इस अपवाद से सामान्य नियम में कोई बाधा नहीं आती। जब जो लोग ज्ञान को आत्मा का और इच्छा, द्वेष, सुख और दुःखको अन्तःकरण का गुण मानते हैं, उनका खण्डन करते हैं।

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥३६॥ उत्तरपक्ष

ज्ञाता जिस वस्तु को अपने सुख का कारण समझता है, उस के प्राप्त करने की इच्छा करता है और जिसको दुःख का कारण जानता है, उससे बचना चाहता है। सुख साधनों के प्राप्त करने और दुःखसाधनों के छोड़ने का प्रयत्न करता है। इसलिये ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये सब आपस में एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् जिसको सुख के साधन का ज्ञान होगा, उसी को इच्छा होगी और वही उस के लिये यत्न करेगा।

दुःखसाधन का ज्ञान होने पर द्वेष होगा, अतः इन सब का आधार केवल आत्मा ही है सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष यह चार मिथ्या ज्ञानमें उत्पन्न होते हैं शेष ज्ञान प्रयत्न नित्य हैं। इस पर वादी शंका करता है।

तल्लिंगत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥ ३७ ॥

पार्थिव, आप्य और आग्नेय आदि जितने शरीर हैं उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति का होना पाया जाता है, प्रवृत्ति और निवृत्ति इच्छा और द्वेष से होती है। विना इच्छा के प्रवृत्ति और विना द्वेष के निवृत्ति का होना असम्भव है, क्योंकि विना कारण के कार्य नहीं होता। अतएव इच्छा द्वेष पार्थिवादि शरीरों के धर्म हैं। अब इस का खण्डन करते हैं।

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३८ ॥ (उत्तरपक्ष)

कुल्हाड़ी आदि हथियारों में भी आरम्भ और निवृत्ति देखेजाते हैं, परन्तु उन में इच्छा द्वेष का होना किसी को अभिमत नहीं है। इसी प्रकार शरीर में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति को देखकर इच्छा द्वेष की कल्पना करना ठीक नहीं। इस पर आक्षेपः-

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३९ ॥ (पूर्वपक्ष)

कुम्भादि में प्रवृत्ति और निवृत्ति की उपलब्धि न होने से उक्त हेतु अहेतु है। अब इस का उत्तर देते हैं।

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ४० ॥ (उत्तरपक्ष)

नियम और अनियम इच्छा द्वेष के विभाजक हैं, तात्पर्य यह कि चेतन और अचेतन का भेद इच्छा द्वेष के सम्बन्ध और असम्बन्ध से ही विदित होता है। इच्छा और द्वेष का साक्षात् सम्बन्ध आत्मा से ही है, आत्मा ही इच्छा और द्वेष के कारण शरीर को प्रेरणा करता है अर्थात् ज्ञाता की इच्छा और द्वेष के कारण ही प्रवृत्ति और निवृत्ति शरीर से होती है, स्वयमेव नहीं इसका आशय यह है कि इच्छा द्वेष आत्मा के गुण हैं, उन के आश्रय से ही शरीर में प्रवृत्ति और निवृत्ति उत्पन्न होती है, अन्यथा नहीं। अब इच्छादि के मनोधर्म होने का भी निषेध करते हैं।

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः (उत्तरपक्ष)

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान ये ६ आत्मा के लिंग बतलाये जा चुके हैं और अनुमान तथा युक्तियों से इन का आत्म गुण होना सिद्ध किया गया है। साथ ही इस के शरीर, इन्द्रिय और मन के चेतन (ज्ञाता) होने का निषेध किया गया है। इस सूत्र में मन शब्द से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों का ग्रहण होता है। उक्त हेतुओं से तथा मन के परतन्त्र होनेसे और अकृताभ्यागम दोष की आपत्ति से इच्छादि मन के धर्म नहीं हो सकते। (प्रश्न) अकृताभ्यागम दोष की आपत्ति कैसे होगी ? (उत्तर) यदि इच्छादि मन के धर्म माने जावेंगे, तो इस जन्म में किसी अन्तःकरण ने स्वतन्त्रता से कोई कर्म किया, अब परजन्म में उसका फल दूसरे अन्तःकरण को भोगना पड़ेगा और यह अन्याय है, इसलिये आत्मा ही स्वतन्त्रता से मन आदि करणों के द्वारा कर्म करता है और वही जन्मान्तर में इन का फल भोगता है, यही सिद्धान्त शास्त्र और युक्तिमूलक है। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं।

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ४२ ॥ (उत्तरपक्ष)

मन, इन्द्रिय और शरीर के अचेतन होने से इच्छादि उनका धर्म नहीं हो सकते। अब उनसे शेष केवल आत्मा रहगया है। अत एव ये उसी के धर्म या गुण हैं। जिन हेतुओं से आत्मसिद्धि की गई है, उन्हीं हेतुओं से आत्मा का नित्य होना भी सिद्ध होता है। और नित्य होने के कारण ही आत्मा धर्म से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति करता है और अधर्म से नरक और दुःख भोगता है, यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के नष्ट होनेपर उसका भी नाश हो जाता। इस पर और हेतु देते हैं।

स्मरणन्त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥ ४३ ॥ (उत्तरपक्ष)

स्मृति भी एक प्रकार का ज्ञान है और ज्ञान आत्मा का धर्म सिद्ध हो चुका है, इसलिये स्मृति भी आत्मा का ही गुण है। प्रत्येक आत्मा में तीन प्रकार का ज्ञान होता है "मैंने जाना था, मैं जानता हूं, मैं जानूंगा" यह त्रिकालिक ज्ञान केवल आत्मामें ही रह सकता है, इसलिये स्मृति भी आत्मा को ही होती है, अब जिन कारणों से स्मृति उत्पन्न होती है, उनको कहते हैं।

प्रणिधान-निबन्धाऽभ्यासलिंग लक्षणसादृश्यपरिग्रहा श्रयाश्रित सम्बन्धानन्तर्य वियोगैककार्यविरोधातिशय

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्व क्रियाराग धर्माधर्मनिमित्तेभ्यः ॥ ४४ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रणिधान आदि १२ निमित्तों से स्मृति उत्पन्न होती है (१) स्मरण की इच्छा से मन को किसी एक विषय में लगा देना प्रणिधान कहलाता है। (२) एक ग्रन्थ में अनेक अर्थों के परस्पर सम्बन्ध को निबन्ध कहते हैं। (३) किसी काम के वारवार करनेसे जो संस्कार उत्पन्न होते हैं उन को अभ्यास कहते हैं। (४) धूम को देखने से जो अग्नि का स्मरण होता है उसको लिंग कहते हैं। (५) जो धर्म किसी पदार्थ को दूसरे से पृथक् करे या जिनसे कोई पदार्थ जाना जावे उसको लक्षण कहते हैं। (६) सादृश्य अर्थात् समता जैसे चित्र को देखकर चित्रस्थ व्यक्ति का स्मरण हो आता है। (७) परिग्रह, पुत्र के देखने से पिता और शिष्य के देखने से गुरु का स्मरण हो आता है। (८-९) आश्रय और आश्रित जो जिस के सहारे रहे, सहारे को आश्रय और सहारे रहने वाले को आश्रित कहते हैं, जैसे भृत्य और स्वामी। (१०) सम्बन्ध, जैसे गुरु शिष्य का या पिता पुत्र का। (११) आनन्तर्य, एक काम के पीछे जो दूसरा कियाजाताहै, उसे आनन्तर्य कहतेहैं, जैसे ब्रह्मयज्ञ के पश्चात् देवयज्ञ। (१२) वियोग, जिसका वियोगहोताहै,उसका स्मरण किया जाता है (१३) एककार्य, यदि वहुत से मनुष्य एक काम के करने वाले हों तो वे परस्पर स्मरण का हेतु होते हैं। (१४) विरोध, जिस का परस्पर विरोध है, वे भी एक दूसरे को याद दिलाते हैं (१५) अतिशय, अत्यन्त होने से, जैसे अत्यन्त बुद्धिमान् होने से बृहस्पति और अत्यन्त नीतिमान् होने से शुक्र का स्मरण होता है। (१६) प्राप्ति जिस से जिसको जिस वस्तु की प्राप्ति होती है, वह वस्तु उस को याद दिलाती है। (१७) व्यवधान, आवरण को कहते हैं, जैसे भित्ति को देख कर गृह का स्मरण होता है। (१८) (१९) सुख दुःख, प्रसिद्ध हैं, इन से इनके हेतु का ज्ञान होता है। (२०-२१) इच्छा-द्वेष से इष्ट अनिष्ट का स्मरण होता है। (२२) भय से भय के हेतु का स्मरण होता है। (२३) अर्थित्व, मांगने से दाता का स्मरण होता है। (२४) क्रिया से कर्त्ता का, (२५) राग से ईप्सित अर्थ का। (२६) धर्म और (२७) वे अधर्म से सुख दुःख तथा इनके अदृष्ट कारणों का स्मरण होता है। ये २७ स्मृति के कारण हैं, इन के अतिरिक्त और भी कारण हो सकते हैं। अब बुद्धि के अनित्य होने में और भी हेतु देते हैं:—

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥ ४५ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रत्येक अर्थ के लिये बुद्धि नियत है, जब तक जिस अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि के साथ रहता है, तब तक ही उस की स्मृति भी रहती है। अर्थ के प्रत्यक्ष होने पर बुद्धि की उत्पत्ति और विनाश होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है। यह प्रत्यक्षसिद्ध है, जब तक कोई पदार्थ सामने होता है, तभी तक उसका ज्ञान रहता है और जब वह परोक्ष होजाता है, तब उसका ज्ञान भी नहीं रहता, इस लिये अस्थायी कर्म की ग्राहक होने से बुद्धि अनित्य है। फिर इसी की पुष्टि करते हैं।

बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः॥४६॥ (उत्तरपक्ष)

यदि बुद्धि को नित्य माना जावे तो जो पदार्थ देखे गये हैं, उन का प्रत्यक्ष रहना चाहिये और उन के सदा प्रत्यक्ष रहने पर स्मृति का अभाव होना चाहिये। क्योंकि जबतक प्रत्यक्ष है, तबतक स्मृति नहीं और जब स्मृति है, तब प्रत्यक्ष नहीं। इस से पाया जाता है कि बुद्धि अनित्य है। वादी शङ्का करता है:—

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्सम्पाते रूपा-
व्यक्तग्रहणवत् ॥ ४७ ॥ (पूर्वपक्ष)

यदि बुद्धि को अनित्य (शीघ्र नष्ट होने वाला) मानोगे तो उस से ज्ञेय का स्पष्ट रूप से ग्रहण न हो सकेगा। जैसे बिजली के गिरने पर उस की चमक के अस्थायी होने से रूप का ग्रहण नहीं होता, ऐसे ही बुद्धि के भी अस्थायी होने से सारे ज्ञान भ्रमात्मक होंगे, परन्तु बुद्धि से पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इस लिये बुद्धि को अनित्य मानना ठीक नहीं। अब इस का उत्तर देते हैं:—

हेतूपादान त् प्रतिषेद्धव्याऽभ्यनुज्ञा ॥४८॥ (उत्तरपक्ष)

वादी ने जो बिजली का दृष्टान्त दिया है, उस से ही बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है, क्योंकि जैसे विद्युत्प्रकाश के क्षणिक होने से केवल उसका ही अव्यक्त ग्रहण होता है न कि उन पदार्थों का जिन पर बिजली गिरती है। ऐसे ही बुद्धि के अनित्य होने से केवल उस का ही अस्पष्ट ग्रहण होगा, न कि बुद्धगम्य पदार्थों का। अतएव वादी के ही हेतु से बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है फिर उसी की पुष्टि करते हैं:—

प्रदीपार्चिः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ४६ (उ०)

बुद्धि के अस्थिर होने पर भी पदार्थों का ठीक २ ज्ञान होता है। जैसे दीपक की किरणों का प्रत्येक क्षण में नाश होता जाता है और नई २ किरणें बत्ती से पैदा होती जाती हैं, परन्तु उन से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। उत्पन्न होने से दीपक की किरणें तथा उन किरणों से जिन पदार्थों का प्रकाश होता है, ये दोनों अनित्य हैं. अर्थात् न तो दीपक की किरणें ही स्थिर रहती हैं और न वे पदार्थ ही जिनको उन किरणों से मालूम करते हैं, स्थिर रहते हैं, प्रत्येक वस्तु के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होने से उन पदार्थों के समान बुद्धि वृत्तियां भी अनित्य हैं। जैसे दीप किरणें अस्थिर होने पर भी ठीक २ अर्थ का प्रकाश करती हैं, ऐसे ही बुद्धिवृत्तियां अनित्य होने पर भी यथार्थ ज्ञान का कारण होती हैं। बुद्धि की अनित्यता का प्रकरण समाप्त हुआ, अब यह विचार किया जाता है, कि चेतनता शरीर का धर्म है वा किसी अन्य का? प्रथम सन्देह का कारण कहते हैं:—

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः॥ ५०॥ (पूर्वपक्ष)

द्रव्य में अपने गुण और दूसरे के गुण भी पाये जाते हैं। जैसे जल में द्रवत्व अपना गुण और उष्णत्व अग्नि का गुण पाया जाता है, ऐसे ही सब पदार्थों में कुछ गुण अपने होते हैं और कुछ अन्य पदार्थों के योग से आते हैं। अब यह सन्देह होता है कि शरीर में जो चेतनता मालूम होती है, यह उस का अपना गुण है, या किसी अन्य पदार्थ का? इस का उत्तर देते हैं:—

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम्॥ ५१॥ (उत्तरपक्ष)

शरीर किसी दशा में भी रूपादि से रहित नहीं होता किन्तु चेतनता से रहित शरीर देखा जाता है, इस से सिद्ध होता है, कि चेतनता शरीर का धर्म नहीं है। जैसे उष्णत्व जल का धर्म नहीं किन्तु अग्नि का है, उस से रहित जल हो सकता है, ऐसे ही चेतनता जो किसी अन्य का धर्म है, उस से रहित शरीर हो सकता है, यदि कहा जाय कि संस्कार सहित शरीर का धर्म है तो भी ज्ञान के न रहने और उस के कारण के बने रहने से ऐसा होना सिद्ध नहीं होसक्ता। अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न, पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः॥ ५२॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे पकाने से गुणान्तर की उत्पत्ति होती है, ऐसे ही शरीर में भी चेतनता की उत्पत्ति हो जायगी। अर्थात् किसी वस्तु में पहले जो गुण नहीं होते, पाक होने पर उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे ही शरीर के परिपक्व होने पर उस में चेतनता की उत्पत्ति हो जायगी। अब इस का उत्तर देते हैं:—

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥५३ (उत्तरपक्ष)

पाक से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे पर्वगुणों के विरोधी होते हैं, अर्थात् बीज में जो उत्पन्न होने का गुण है, वह पाक होने पर नहीं रहता। सारांश यह कि पूर्वगुणों के साथ पाकज गुणों का कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु शरीर में चेतनता के विरुद्ध कोई दूसरा गुण देखा नहीं जाता। यदि चेतनता शरीर का गुण होती तो वह जब तक शरीर है, तब तक उस में रहती, परन्तु शरीर के रहते हुवे भी चेतनता उस में नहीं रहती। इस लिये वह शरीर का धर्म नहीं इसी अर्थ की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:-

शरीरव्यापित्वात् ॥ ५४ ॥ (उत्तरपक्ष)

कुल शरीर में चेतनता व्यापक है अर्थात् शरीर का कोई भाग ऐसा नहीं, जिस में चेतनता न हो तो क्या शरीर के सारे अवयव चेतन माने जायँगे ? यदि शरीर के प्रत्येक अवयव में चेतनता की उपलब्धि होने से उन को चेतन माना जायगा तो एक शरीर में अनेक चेतन होने से उन का ज्ञान भिन्न २ होगा, किन्तु ऐसा नहीं है, इस लिये चेतनता शरीर का धर्म नहीं। अब इस पर आक्षेप करते हैं:-

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५५ ॥

चेतनता सारे शरीर में मौजूद नहीं है, क्योंकि शरीर के रोम और नखादि में उस की उपलब्धि नहीं होती। इस लिये यह कहना कि चेतनता सारे शरीर में व्याप्त है, ठीक नहीं। अब इसका उत्तर देते हैं:—

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः॥५६॥(उ०)

जहां शरीर का लक्षण कहा गया है, वहां चेष्टा और इन्द्रियों के आश्रय को शरीर कहा है, इस लिये त्वचापर्यन्त (खालतक) यह शरीर है, केश और नख उस से बाहर हैं। क्योंकि इन में न तो चेष्टा पाई जाती है और नहीं ये कोई इन्द्रिय हैं और न किसी इन्द्रिय के

अधिष्ठान हैं, इस लिये केश और नख शरीर नहीं हैं। इसी अर्थ की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:-

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५७ ॥ (उत्तरपक्ष)

शरीर के गुण दो प्रकार के हैं, एक प्रत्यक्ष जैसे रूपादि, दूसरे अप्रत्यक्ष जैसे गुरुत्वादि, परन्तु चेतनता इन दोनों से विलक्षण है। यह मन का विषय होने से इन्द्रियों से ग्रहण नहीं की जाती और ज्ञान का विषय होने से अप्रत्यक्ष भी नहीं। इसी लिये चेतनता शरीर का धर्म नहीं। वादी आक्षेप करता है:-

न, रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५८ ॥ (पूर्वपक्ष)

रूपादि गुणों से चेतनता को विलक्षण मानकर जो उस के शारीरक गुण होने का निषेध किया गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि शरीर के गुण रूप और गुरुत्वादि भी एक दूसरे से भिन्न और विलक्षण हैं। जब कि शरीर के भिन्न २ गुणों में परस्पर विरोध होने पर भी उन को शरीर का गुण माना जाता है, तो चेतनता (बुद्धि) का रूपादि से विरोध होने पर उस को शरीर का गुण क्यों न मान लिया जाय। इस का उत्तर देते हैं:-

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५९ ॥ (उत्तरपक्ष)

वादी ने जो यह कहा है कि शरीर के गुणों में भी परस्पर विरोध है, यह ठीक नहीं। क्योंकि सब शरीर के गुण इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं, इन्द्रिय ग्राह्य होना उनमें एक ऐसा धर्म है जो सबमें पाया जाता है। एक ही शरीर में रहने और इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने के कारण रूपादि गुण सजातीय हैं। चेतनता (बुद्धि) का किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता, इसलिये वह शरीर का गुण नहीं हो सकती, किन्तु अतीन्द्रिय आत्मा का धर्म है। यहां तक बुद्धि की परीक्षा हुई, अब मन की परीक्षा आरम्भ करते हैं। मन प्रति शरीर में एक है वा अनेक? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ६० ॥ (उत्तरपक्ष)

मन एक समय में एक ही इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है। एक समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान न होना ही मन के होने का प्रमाण है, इसी लिये मन एक है। यदि मन अनेक होते, तो एक समय में अनेक ज्ञानों का होना सम्भव था। क्योंकि सब इन्द्रियों के साथ एक २ मन का संयोग होकर सब विषयों का एक साथ

ज्ञान होता, परन्तु ऐसा नहीं होता। इस लिये मन एक है। वादी आक्षेप करता है:—

न, युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ६१ ॥ (पूर्वपक्ष)

यह कथन कि एक साथ अनेक ज्ञान न होने के कारण मन एक है, ठीक नहीं। क्योंकि एक साथ न केवल बहुत से ज्ञान किन्तु बहुत सी क्रियायें भी देखी जाती हैं। एक मनुष्य मार्ग में चलता हुवा कुछ पढ़ता हुवा जाता है. पक्षियों के शब्द सुनता है, पथिकों से बात चीत करता है, कहां जाना है इस बात को सोचता है, ऐसे ही और भी बहुत से विचार और काम एक साथ करता जाता है। अतएव यह कहना कि एक साथ या एक काल में बहुत से ज्ञान या काम नहीं हो सकते, ठीक नहीं, अतः मन अनेक हैं। इसका उत्तर देते हैं:—

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥६२॥(उ०)

जैसे शीघ्रगामी अलातचक्र (आतिशबाज़ी की चर्खी) यद्यपि क्रमपूर्वक चलता है, तथापि शीघ्र गति होने के कारण उसका क्रम मालूम नहीं होता, किन्तु वह एक साथ ही चलता हुआ सा मालूम होता है। ऐसे ही शीघ्रगामी मन यद्यपि एक विचार को छोड़ कर दूसरे विचार में और एक काम को छोड़ कर दूसरे काम में जाता है, तथापि उसकी शीघ्र गति होने के कारण वह क्रम नहीं दीखता, किन्तु वे काम एक साथ होते हुवे मालूम होते हैं। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त वर्ण पद और वाक्यों का भी है। पहले क्रम पूर्वक वर्णोंका उच्चारण होता है, जिससे सार्थक पद बनते हैं फिरक्रमशः पदों के मिलाने से वाक्य बनता है जिससे श्रोता को उसके अर्थका ज्ञान होता है। यद्यपि ये सब काम क्रम पूर्वक होते हैं, तथापि शीघ्रता के कारण कोई इनके क्रम पर ध्यान नहीं देता। अतः सब काम क्रमपूर्वक होने से एक साथ नहीं हो सकते। अब मन का अणु होना सिद्ध करते हैं:—

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६३ ॥ (उत्तरपक्ष)

उक्त हेतु से मन का अणु होना भी सिद्ध होता है; क्योंकि यदि मन विभु होता तो उस का सब इन्द्रियों के साथ एक काल में सम्बन्ध होता, जिससे सब विषयोंका एक साथ ज्ञान होना चाहिये। ऐसा न होने से जहां मनका एक होना सिद्ध होता है, वहां उसका

अणु होना भी सिद्ध है। अब यह सन्देह होता है कि एक शरीर में रहने वाले मनके संस्कार उसी शरीर से सम्बन्ध रखते हैं अथवा किसी दूसरे शरीर से भी उनका सम्बन्ध है? या इस प्रश्न को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मन सहित शरीर की उत्पत्ति जीवों के पूर्वकृत कर्माधीन है अथवा स्वतन्त्र पञ्चभूतों से होती है? इसका उत्तर देते हैं:-

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः॥ ६४॥ (उत्तरपक्ष)

पूर्वजन्म में जो मन, वाणी और शरीर से कर्म किये हैं और उस से जो धर्माऽधर्म और उनका फल सुख दुःख का भोग उत्पन्न हुवा है, वही इस जन्म के होने का निमित्त कारण है। क्योंकि शरीर में उत्पन्न होते ही भोग का आरम्भ होजाता है, जो विना किसी निमित्त के नहीं हो सकता। इसलिये कार्यरूप शरीर और उसके भोग से पूर्वकृत कर्मों का अनुमान होता है, क्योंकि विना कारण के कोई कार्य नहीं होता। अतएव पञ्चभूत इस शरीर का उपादान-कारण हैं, नकि निमित्तकारण (प्रश्न) जब इस शरीर का नाश हो जाता है, तो धर्माधर्म के संस्कार किस में रहते हैं? (उत्तर) सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन में। (प्रश्न) जब जीवात्मा इस शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाता है, तो उसके साथ क्या जाता है? (उत्तर) सूक्ष्म शरीर और उस में रहने वाले संस्कार। (प्रश्न) सूक्ष्मशरीर नित्य है वा अनित्य? (उत्तर) सूक्ष्मशरीर प्रकृति का कार्य होने से अनित्य है, किन्तु ईश्वरीय नियमानुसार वह मुक्तिपर्यन्त रहता है, मुक्ति में नहीं रहता। अब वादी आक्षेप करता है।

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत्तदुपादानम्॥ ६५॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे विना कर्म और फलभोग के भूतों से मिट्टी, धातु पत्थर आदि की मूर्तियां बनती हैं और भूतों के परमाणु हो उनके उपादान या निमित्तकारण माने जाते हैं। ऐसे ही विना कर्म और उनके फल भोग के मनुष्यादि के शरीर उत्पन्न होते हैं, कर्म या फलभोग के निमित्त मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हैं।

न साध्यसमत्वात्॥ ६६॥ (उत्तरपक्ष)

जैसे विना कर्म के शरीर की उत्पत्ति साध्य है, ऐसे ही विना कर्मरूप निमित्त के मिट्टी, पत्थर और धातु की उत्पत्ति भी साध्य

है, अतएव साध्य को हेतु में रखना साध्यसम हेत्वाभास है, कोई सिद्ध दृष्टान्त होना चाहिये। वादी पुनः आक्षेप करता है।

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ६७॥ (पूर्वपक्ष)

माता पिता के रजवीर्य से शरीर की उत्पत्ति होती है, इसको सब जानते हैं, फिर इस दृष्ट और प्रसिद्ध कारण को छोड़कर अदृष्ट कर्मको निमित्त मानना ठीक नहीं। वादी दूसरा हेतु और देता है:-

तथाहारस्य ॥ ६८ ॥ (पूर्वपक्ष)

रजवीर्य के ही समान माता पिता का आहार भी शरीर की उत्पत्ति का कारण है। इन अनुभवसिद्ध कारणों की उपस्थिति में अदृष्ट कर्म को कारण मानना किसी तरह ठीक नहीं। अब इन आक्षेपों का उत्तर देते हैं।

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६६ ॥ (उत्तरपक्ष)

स्त्री पुरुष के संयोग से भी यह नियम नहीं कि अवश्य ही पुत्रोत्पत्ति होगी, इस लिये स्त्री पुरुष का संयोग शरीरोत्पत्ति का अन्यतम कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार आहार भी यद्यपि रजवीर्य को उत्पन्न करता है तथापि जब रजवीर्य ही शरीरोत्पत्ति का अन्यतम कारण नहीं, तब आहार क्योंकर हो सकता है ? केवल कर्म ही शरीरोत्पत्ति का अन्यतम कारण होसकता है। यदि कर्मफल निमित्त होता है तो एक ही वार के संयोग से गर्भस्थिति हो जाती है, अन्यथा वार २ के संयोग से भी सफलता नहीं होती। फिर इसी की पुष्टि करते हैं।

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्ति निमित्तं कर्म॥७०उ०

जिस प्रकार शरीर की उत्पत्ति का कारण पूर्वजन्म के कर्म हैं, ऐसे ही परमाणुओं के संयोग से सृष्टि बनने का कारण भी पूर्वसृष्टि के कर्म हैं। जैसे मनुष्य का शरीर पूर्वजन्म के कर्मों से बनता है, ऐसे ही सृष्टि के सब स्थावर और जङ्गम शरीर कर्मानुसार ही बनते हैं। अर्थात् सब शरीर जीवात्मा के कर्मफल भोगने के लिये हैं। (प्रश्न) सब शरीर परमाणुओं के विशेष संयोग से बनते हैं तो कर्म और ईश्वर को कर्ता क्यों माना जावे। (उत्तर) मनुष्य के शरीर बनने का कारण अन्य प्रकार का संयोग है और पशुओं के लिये अन्य प्रकार का संयोग कारण है इस भिन्न भिन्न मिलाप का कोई कारण है या नहीं यदि हो तो सिवाय कर्म के क्या

होगा। दूसरे यह मिलाप स्वयं है या इसका कर्ता कोई है यदि स्वयं है तो जड़ में नियमानुसार स्वयं काम होना असम्भव है। यदि कोई अन्य कर्ता तो वही कर्म है (प्रश्न) यदि हम कर्म और ईश्वर को न मानकर पञ्चभूतों के मिलाप को ही सृष्टि का कारण मानें तो इस में क्या हानि है? (उत्तर) पञ्चभूत जड़ हैं, उन में एक प्रकार की शक्ति रह सकती है, परस्पर विरुद्ध दो शक्तियां नहीं रह सकतीं। यदि संयोग उन के मिलाप से होता है तो वियोग का कारण क्या है? इस के अतिरिक्त यदि पञ्चभूत ही कारण होते, जीवों के कर्म और ईश्वर इस सृष्टि का निमित्तकारण न होता, तो सब शरीर एक जैसे बनने चाहिये थे और सबको एकसा सुख दुःख होता, परन्तु ऐसा नहीं है। यह शरीर और कर्मफल की भिन्नता ही ईश्वर और जीव के पूर्वकृत कर्मों को सिद्ध कर रही है। पुनः इसी की पुष्टी करते हैं।

एतेनानियमः प्रत्युक्तः ॥ ७१ ॥ (उत्तरपक्ष)

इस से अनियम का खण्डन होता है अर्थात् सृष्टि की रचना में नियम देखने में आता है, यदि इस सृष्टिका कोई चेतनकर्त्ता न होता तो सृष्टि के पदार्थों में कोई नियम न होता, किसी से किसी की उत्पत्ति हो जाती। यदि शरीरों की रचना में पूर्वकर्म कारण न होते तो सुख दुःख की व्यवस्था भिन्न भिन्न होती। अतएव पूर्वकृत कर्म ही शरीरादि का निमित्त हैं। (प्रश्न) जब आत्मामें ज्ञान प्रयत्न रहते हैं तो कर्म समाप्त होजाते हैं। (उत्तर) जब मिथ्याज्ञान और इच्छाका नाश होगया तो प्रवृत्ति का नाश होगया, कर्म इच्छा तथा द्वेष से होते हैं। इच्छा द्वेष का नाश होगया तो कारण के न रहनेसे कार्य का नाश होगया अतः जब तत्व ज्ञान से होगया जब सब कर्म निवृत होजाते हैं। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं।

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥ ७२ ॥ उत्तरपक्ष

कर्म के नाश हो जाने पर अर्थात् जब भोगते २ कर्म समाप्त हो जाते हैं, तब शरीर से आत्मा अलग हो जाता है और जो शरीर की उत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानोगे तो पञ्चभूतों के नाश न होने से शरीर आत्मा का वियोग कभी न होगा। दूसरी शङ्का करते हैं।

तददृष्टकारितमिति चेत्पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ७३ ॥

यदि शरीर की उत्पत्ति का कारण अदृष्ट (प्रारब्ध) को माना

जावे तो मुक्त जीवों के शरीर की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी। क्योंकि कर्म और जीवात्मा का सम्बन्ध तो इच्छा होनेपर होता है, राग द्वेष के निवृत्त होनेपर नहीं होता। पर जब शरीर की उत्पत्ति का कारण प्रारब्ध को माना जावेगा तो मुक्त और बद्ध दोनों के लिये शरीर मानना पड़ेगा। अब इसका उत्तर देते हैं।

न, करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ॥ ७४ ॥ उत्तरपक्ष

आत्मा बद्ध होकर कर्म करता है, मुक्त होकर नहीं करता। जब करना न करना इन दोनों का आरम्भ देखा जाता है, तब तत्त्व ज्ञान होनेपर कर्म का त्याग मुक्तजीव को शरीर के बन्धन में नहीं पड़ने देगा। मन भी शरीरोत्पत्ति का कारण नहीं है:-

मनः कर्म निमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥७५॥ (उत्तरपक्ष)

यदि अदृष्ट कारण को मनका गुण माना जावे तो शरीर से मन का वियोग कभी न होनाचाहिये। क्योंकि मन किसी दूसरे कारणसे तो शरीर में गया नहीं, केवल अपने गुण अदृष्ट के कारण से गया है और वह जबतक मन रहेगा, अवश्य ही रहेगा; क्योंकि गुणी विना गुण के कभी रह नहीं सकता। परन्तु मनका इन्द्रियों के साथ कभी संयोग जो दुःख सुख आदि का कारण है; सदा रह नहीं सकता। इसलिये अदृष्ट जो शरीर की उत्पत्तिका कारण है, मनका गुण नहीं। मनका संयोग सदा क्यों नहीं रहता:—

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ७६ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिन कर्मों का फल भोगने के लिये जीवात्मा शरीरमें आया था, उसके भोगने के बाद मृत्यु हो जाता है और दूसरे कर्मों का फल भोगने के लिये और जन्म होता है। कर्म को निमित्त न मान कर यदि केवल भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानी जावे या मनके संयोग से देहोत्पत्ति मानी जावे, तब ऐसी दशामें मृत्यु का होना असम्भव होगा। क्योंकि भूत या मन जब तक रहेंगे, तबतक शरीर भी बना रहेगा। (प्रश्न) हम कहते हैं कि किसी आकस्मिक कारणसे मृत्यु होजाता है। (उत्तर) वह आकस्मिक कारण भूतों से पृथक किसी का गुण है, या भूतों का? यदि कहो भूतोंका है तो विरुद्ध धर्म भूत में नहीं रह सकते अर्थात् वही संयोग का कारण हो और वही वियोग का। यदि कहो भूतों से अलग कोई गुण है, तो उसीको हम कर्म फल कहते हैं। इसपर वादी आक्षेप करता है:—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात् ॥ ७७ ॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे परिमाणु की श्यामता नित्य होने पर भी अग्निसंयोग से नष्ट होजाती है ऐसे ही मनका गुण अदृष्ट नित्य होने पर भी नष्टहो जाता है और मोक्ष में शरीरोत्पत्ति का कारण नहीं होता। अब इस का उत्तर देते हैं:-

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ ७८ ॥ (उत्तरपक्ष)

अकृताभ्यागम दोष के होने से उक्त कथन ठीक नहीं। किसी प्रमाण से परमाणुओं की श्यामता का नित्य होना सिद्ध नहीं होता, अतः इस दृष्टांत से कर्म फलका नाश मानना ठीक नहीं। यदि ऐसा माना जाये तो विना किये ही संसारमें सुख दुःख आदि फल मानने पड़ेंगे। जिससे अकृताभ्यागम दोष होगा, क्योंकि विना शुभ अशुभ कर्म के किसी को सुख या किसी को दुःख होना अन्धेर नगरी है। इसलिये विना कर्मफल के सुख दुःख के भोग का मानना प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र इन तीनों के विरुद्ध है। पहले प्रत्यक्षका विरोध यह है कि प्रत्येक प्राणी के लिये सुख दुःख की अवस्था एक जैसी नहीं है, जब अदृष्ट कर्म इसका कारण नहीं है, तो क्या कारण है, क्योंकि एक प्राणी दुःखी है और एक सुखी ? दूसरे अनुमान का विरोध यह है कि जीवों को इस संसार में जो विना यत्न के सुख दुःख होते हैं, उनका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। जब दृष्ट कारण कोई देखने में नहीं आता, तब सिवाय पूर्वजन्मके अदृष्ट कर्मों के और क्या कारण हो सकता है अब रहा शास्त्र का विरोध, वह यह है कि वेद तथा सम्पूर्ण आप्त पुरुषोंने शुभ कर्म को सुखका हेतु और अशुभ कर्म को दुःख का हेतु माना हैं। यदि शरीरोत्पत्ति में कर्मको निमित्त न माना जावे तो कदापि यह बात नहीं हो सकती। इसलिये शरीरों की उत्पत्ति में कर्मफल ही मुख्य कारण है। शरीर की परीक्षा समाप्त हुई।

तीसरे अध्याय का दूसरा आन्हिक समाप्त हुवा।

तीसरा अध्याय समाप्त।

अथ चतुर्थाध्याये प्रथममान्हिकम्

तीसरे अध्याय में आत्मादि ६ प्रमेयों की परीक्षा की गई। अब चौथे अध्याय में प्रवृत्यादि शेष ६ प्रमेयों की परीक्षा की जाती है। पहले प्रवृत्ति और दोष की परीक्षा करते हैं:—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रवृत्ति का जो लक्षण कहा गया है, अर्थात् मन, वाणी और शरीर से किसी काम का आरम्भ करना उसमें कुछ वक्तव्य नहीं है, क्योंकि वह सर्वसम्मत सिद्धान्तहै। अब दोषोंका वर्णन करते हैं:—

तथा दोषाः ॥ २ ॥ (उत्तरपक्ष)

ऐसे ही दोषों का जो लक्षण किया गया है अर्थात् प्रवृत्ति के कारण दोष हैं, उसमें भी कुछ विवाद नहीं है। अब दोषों के भेद कहते हैं। (प्रश्न) दोष किसमें रहते हैं (उत्तर) दोष स्वभाविक गुण नहीं मिथ्या ज्ञान से होता है अतः जो मिथ्या ज्ञान में फंसेगा उसी में दोष रहते हैं:—

तत् त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥ (उ०)

दोष के तीन भेद हैं [१] राग [२] द्वेष [३] मोह। ये तीन दोषों की राशि (समूह) हैं, इनमें से एक २ के अन्तर्गत बहुत से दोष आजाते हैं। जैसे रागके अन्तर्गत काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, माया, दम्भ और लोभ इत्यादि हैं। द्वेष के अन्तर्गत क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष और अभिमान इत्यादि हैं। मोह के अन्तर्गत मिथ्याज्ञान, संशय, तर्क, मान, प्रमाद, भय और शोक इत्यादि हैं। इनमें से राग प्रवृत्ति का कारण है, द्वेष क्रोधका उत्पादक और मोह मिथ्याज्ञान का कारण है। वादी आक्षेप करता है:—

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥४॥ (पूर्वपक्ष)

रागादि दोषों के तीन भेद मानना ठीक नहीं, क्योंकि तीनों प्रकार के दोष एक ही तत्त्वज्ञान के विरोधी हैं या एक ही तत्त्वज्ञान इन सब का विरोधी और नाशक है। यदि इनके तीन भेद माने जावें तो फिर इनके प्रतिद्वन्द्वी भी तीन ही होने चाहियें। जो कि प्रतिद्वन्द्वी इनका एक है, इसलिये इनमें भी भेद न होना चाहिये।

इसका उत्तर देते हैं:—

व्यभिचारादहेतु ॥५॥ (उत्तरपक्ष)

व्यभिचार युक्त होने से उक्त हेतु अहेतु है। क्योंकि श्याम, हरित पीतादि वर्णों का एक अग्नि विरोधी है, जो इन सब को जलाकर नष्ट कर देता है, एक अग्नि के विरोधी होने पर भी ये सब पृथक् २ हैं। ऐसे ही एक तत्त्व ज्ञानके विरोधी होने पर भी रागादि दोष भिन्न २ हैं, एक नहीं हो सकते।

अब इन तीनों दोषों में मोह की प्रबलता दिखलाते हैं:—

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥६॥ (उ०)

इन सब दोषों का मूल मोह है, जिसको मोह नहीं रहता, उस को राग द्वेष भी नहीं होते। तत्त्वज्ञान के मोह का नाश होता है, मोह के न रहने पर राग द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होती। इसलिये मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु मोह है। अहित से अनुराग और हित से द्वेष ये दोनों मोह के कारण उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इसी का दूसरा नाम मिथ्याज्ञान भी है। तत्त्वज्ञान इसी मिथ्याज्ञान का विरोधी है, अतएव मिथ्याज्ञान के निवृत्त होते ही राग और द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिये मोह इन तीनों में प्रधान है।

वादी आक्षेप करता है:—

प्राप्तस्तर्हि निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः ॥ ७ ॥ (उत्तरपक्ष)

जब मोह दोषों के उत्पन्न होने का कारण है तो कार्य कारण भाव के होने से वह द्वेषादिसे भिन्न है। क्योंकि कारण कभी कार्य नहीं हो सकता। इसलिये मोह दोष नहीं है, किन्तु दोषोंका कारण कारण है। इसका उत्तर देते हैं:—

न, दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥८॥ (उत्तरपक्ष)

मोह में दोष के लक्षण पाये जाते हैं, इस लिये मोह दोषों से भिन्न नहीं, क्योंकि लक्षण और प्रमाण ही से वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। दोष का लक्षण किसी कार्य के करने में प्रवृत्त होना बतलाया गया है अर्थात् प्रवृत्ति का कारण होना। जब कि मोहप्रवृत्ति का कारण है, तो वह दोष क्यों नहीं?

अब कार्य कारणभाव का उत्तर देते हैं:—

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ९उ.

तुल्य जातीय (एकजाति वालों) में एककी उत्पत्तिका कारण दूसरे

को देखतेहैं।जैसे पृथिवीकी उत्पत्तिका कारणहै जल और जलकी उत्पत्तिका कारण तेजहै। परन्तु यह कार्यकारणभाव होते हुवेभी पृथिवी, जल,तेज आदि भूत कहलातेहैं। ऐसेही मोह राग और द्वेषका कारण होते हुवे भी दोष कहला सकता है। अब प्रेत्यभाव की परीक्षा करते हैं। (प्रश्न) जब कि आत्मा नित्य है तो उसका जन्म मरण नहीं हो सकता और प्रेत्यभाव जन्म मरण का नाम है। इसलिये नित्य आत्मा का प्रेत्यभाव नहीं हो सकता। इसका उत्तर :-

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥१०॥ (उ०)

आत्मा के नित्य होने से ही प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) का होना सिद्ध होता है। यदि आत्मा नित्य न होता तो पुनर्जन्म किसीप्रकार सिद्ध नहीं होसकता था प्रेत्यभाव का अर्थ ही यह है कि एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना। यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीरके साथ ही नष्ट होजाता, फिर उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती थी। किन्तु जो उत्पन्न होता, वह नया उत्पन्न होता, क्योंकि उसी आत्मा का पुनर्जन्म कैसा? (प्रश्न) यदि हम पुनर्जन्मका आशय ऐसा मानें कि वर्त्तमान जन्म का नाश और नवीन जन्म की उत्पत्ति तो क्या हानि है ? (उत्तर) इस दशा में कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष होगा अर्थात् जिसने कर्म किये हैं,उसको तो फल नहीं मिलेगा, जिसने नहीं किये उसको सुख दुःखादि मिले। इसलिये ऐसा मानना ठीक नहीं,क्योंकि जो करताहै, वही भोगता है। सजातीय कारण से कार्योत्पत्ति होती है या विजातीय कारण से ? इसका उत्तर देते हैं:-

व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥ (उ०)

स्थूल पृथिव्यादि कारणों से शरीर की उत्पत्ति होती है, जैसे स्थूल मृतिकादि से स्थूल घटादि बनते हैं। यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। इस से शरीरादि के कारण परमाणुओं का भी साकार होना अनुमान होता हैं। इस लिये सजातीय कारण ही सजातीय कार्यों को उत्पन्न करते हैं अर्थात् जो गुण कारण में होंगे वह उसके कार्य में भी अवश्य आवेंगे। अब वादी आक्षेप करता है :—

न घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥१२॥ (पूर्वपक्ष)

सजातीय स्थूल घट की उत्पत्ति नहीं होती, इस लिये महान् से महान् की उत्पत्ति नहीं हो सकती; किन्तु अणु से ही महान् की उत्पत्ति होती है। इसका उत्तर देते हैं :—

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥ (उत्तरपक्ष)

हमारे कहने का तात्पर्य्य यह नहीं है कि कार्य्य उत्पन्न होताहै, किन्तु कारण से कार्य्य की उत्पत्ति होना हमारा मन्तव्य है। घट कार्य्य है, इसलिये उस से दूसरा घट रूप कार्य उत्पन्न नहीं हो-सकता, किन्तु मृत्तिका कारण है, इस से वह घट को उत्पन्न करने में समर्थ है। कारण मृत्तिका भी स्थूल है और उससे कार्य्य घटभी स्थूल ही उत्पन्न होता है। इस लिये स्थूल से स्थूल की उत्पत्ति का निषेध नहीं हो सकता। वादी पुनः आक्षेप करता है :-

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्यप्रादुर्भावात् ॥१४॥ (पूर्व०)

वादी कहता है कि अभाव की उत्पत्ति होती है, यह हमारा पक्ष है, इस में हेतु यह है कि जब तक बीज गलकर नाश न हो जावे अंकुर उत्पन्न नहीं होता। नाश का ही नाम अभाव है, इससे सिद्ध है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। अब इसका उत्तर देते हैं :-

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥ (उत्तरपक्ष)

यह कहना कि बीज के नाश होने पर अंकुर की उत्पत्ति होती है, ठीक नहीं, क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है। क्योंकि बीजके गलने से उसका अभाव नहीं होता। यदि अभाव से उत्पत्ति होती तो बीज के होने न होने और उसके गलने की आवश्यकता ही क्या थी, किन्तु विना बीज के ही अंकुर उत्पन्न होजाता। दूसरे जब बीज को तोड़ कर अंकुर उत्पन्न होता है तो बीज के तोड़ने वाले का अभाव नहीं यदि उसका अभाव होता तो बीज को कौन तोड़ता? इस लिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। वादी फिर आक्षेप करता है :—

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥१६॥ (पूर्वपक्ष)

बीज का नाश करके अंकुर का उत्पन्न होना अहैतुक नहीं है, क्योंकि भूत और भविष्यमें भी जो अविद्यमान है उसमें कार्य कारण भाव का प्रयोग होता है। जैसे पुत्र की उत्पत्ति से पहले उस के जन्म होने का हर्ष होता है या घड़े के टूटने के पश्चात् उसका शोक होता है। ऐसे ही बीज के नाश करने वाले अंकुर के होने से पहिले उसको तोड़ने वाला कहागया। इसमें कुछ भी व्याघात नहीं अब इसका उत्तर देते हैं :-

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥ (उत्तरपक्ष)

नष्ट वीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, बीज का गलना नष्ट होना नहीं है, किन्तु वह एक अवस्थान्तर को प्राप्त हो कर अंकुर को उत्पन्न करता है, न कि नष्ट होकर। इस लिये अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं। पुनः इसीकी पुष्टि करते हैं:-

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥ (उत्तरपक्ष)

वीज के गलने और अंकुर निकलने का जो सिलसिला है: उस को क्रम कहते हैं, पहिले वीज जब गल जाता है तब उस से अंकुर उत्पन्न होता है। बीज गलने से नष्ट नहीं हो जाता है किन्तु उस की वनावट में कुछ परिणाम होकर अंकुर लाने में समर्थ हो जाता है। यदि नष्ट बीज से अंकुरोत्पत्ति होती तो जला या पिसा हुवा वीज भी अंकुर उत्पन्न कर सकता, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, इस से सिद्ध है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

(प्रश्न) कर्म स्वयं फल देते हैं या कोई और फल देने वाला है ?।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥१६॥ (पूर्वपक्ष)

मनुष्य जिस प्रयोजन से कर्म करता है, प्रायः उस कर्म से वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता,इससे वहकर्म निष्फल जाता है। मनुष्यकी इच्छा और कर्म के अनुसार फल होता हुआ न देखकर अनुमान होता है कि कर्मों का फल देने वाला कोई दूसरा है। यदि कर्म आप ही फल देने वाला होता तो कर्म के समाप्त होने पर उसका फल अवश्य मिलना चाहिये था परन्तु कर्म स्वयं फल देने में असमर्थ है, इस लिये कर्म फल देने वाला ईश्वर है। दूसरा प्रतिपक्षी कहता है :—

(प्रश्न) क्या कर्म निष्फल भी जाताहै। (उत्तर) कर्म निष्फल तो नहीं जाता परन्तु जिस समय हम चाहते हैं उस समय फल नहीं मिलता। (प्रश्न) जिस कर्म का फल जिस समय मिलना नियत है उस समय न मिलने से कर्मको दूसरे के आधीन नहीं कर सकते। (उत्तर) इस कर्म का फल इतनी देर में मिलेगा यह किसने नियत किया है जिसने यह नियम किया है वही ईश्वर है।

न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥ (पूर्वपक्ष)

कर्म फल देने वाला ईश्वर है, यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि जो दुःख सुखका होना ईश्वर के आधीन होता तो वह विना कर्म

के भी दे देता, परन्तु विना कर्म के फल किसी को नहीं मिलता। इससे जाना जाता है कि कर्मफल देने वाला ईश्वर नहीं, किन्तु कर्म स्वयं ही फल देते हैं। जो कर्म करता है, वह फल पाता है, जो नहीं करता, वह नहीं पाता। अब इनका सूत्रकार उत्तर देते हैं:-

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ २१ ॥ (उत्तरपक्ष)

कर्म करने से जो फल होता है, यद्यपि कर्म उसका निमित्त है, तथापि जड़ होने से उस में ज्ञान नहीं है, अज्ञानी कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। जैसे हाथ विना जीवात्मा की इच्छा के कोई काम नहीं कर सकता। ऐसे ही कर्म भी विना ईश्वर की प्रेरणा के स्वयं फल देने में समर्थ नहीं। (प्रश्न) जैसे आग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है इससे कर्म प्रत्यक्ष में फल देता है। (उत्तर) प्रथम तो यह वात प्रत्येक स्थान में नहीं होती इससे व्यभिचारी है चोरी करनेवाला पकड़ाभी नहींजाता इससे कर्म ईश्वराधीन है(प्रश्न)जीव सृष्टिका करता है ईश्वर नहीं करता (उत्तर) यदि जीव ही सृष्टि का कर्त्ता होता तो वह अपने मनोरथमें विफल क्यों होता जो जीव अपना उद्देश्यही नहीं पूरा करसकता वह सृष्टि किसप्रकार वना सकताहै। अतः कर्म फल के अनुमान से ईश्वर ही सृष्टि करता है। (प्रश्न) यदि ईश्वर को फलदाता मानाजावे तो यह कैसे मालूम हो कि किस कर्म का क्या फल है? क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष होकर तो वतलाता नहीं। (उत्तर) वेदादिशास्त्रों में और सृष्टि के नियमों में कर्मफल की व्यवस्था पाई जाती है, उसका अध्ययन करने से मालूम हो सकता है कि सात्विक कर्म का यह फल है, राजस का यह और तामसका यह। (प्रश्न) जब ईश्वरमें राग और द्वेप नहीं तो वह कार्यों का फल देनेवाला और सृष्टि का वनाने वाला क्योंकर हो सकता है। क्योंकि विना राग के प्रवृत्ति और विना द्वेप के निवृत्ति होही नहीं सकती। (उत्तर) ईश्वर का स्वभाव ही न्याय और दया करना है, अपने इसी स्वाभाविक गुण के कारण वह सृष्टि की उत्पत्ति और जीवों को कर्मफल प्रदान करता है। अल्पज्ञ और एकदेशी जीवात्मा राग से प्रेरित होकर कर्म करता है न कि सर्वज्ञ और सर्वव्यापक ईश्वर। (प्रश्न) ईश्वर दयालु और न्यायकारी किस प्रकार हो सकता है क्योंकि दया और न्याय ये दोनों परस्परविरुद्ध गुण हैं, वे दोनों ईश्वर में कैसे रह सकते हैं? (उ०) ईश्वर जो न्याय करता हैं, वह किसी प्रयोजन के लिये नहीं, किन्तु

जीवों पर दया करने के लिये और ये दोनों परस्पर विरुद्ध नहीं, किन्तु एक दूसरे के सहायक हैं, जो न्यायी है, वही दयालु भी है, और जो दयालु है, वही न्यायी है।

अब स्वभाववादी आक्षेप करता है:—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्॥२२

जैसे विना निमित्त के स्वभाव ही से कांटो में तीखा पन और पहाड़ी धातुओं में भिन्न २ वर्ण और गुण देखने में आते हैं ऐसे ही मनुष्यादि प्राणियों के शरीर भी विना किसी ईश्वर या कर्मफल आदि निमित्त के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

इसका खण्डन करते हैं:—

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥२३॥ (पूर्वपक्ष)

यदि अनिमित्त से भाव की उत्पत्ति होती है तो अनिमित्त ही उसका कारण होगा। क्योंकि जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उस का कारण कहलाता है। जब अनिमित से उत्पत्ति होगी तो वही उत्पत्ति का कारण होगा। फिर विना कारण के उत्पत्ति कहां रही। अब सूत्रकार अपना मत दिखलाते हैं:—

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥२४॥ उ०पक्ष

निमित्त और वस्तु है और उसका खण्डन और। कोई वस्तु अपना ही खण्डन नहीं कर सकती। जैसे अग्नि और पदार्थों को जलाता है, पर अपने को नहीं जला सकता, वायु अन्य पदार्थों को सुखाता है, पर अपने को नहीं सुखा सकता। ऐसे ही कारण का अभाव किसी का कारण नहीं होसकता। जब वह स्वयं अभावहै तो फिर उस से भाव की कल्पना करना आकाशकुसुम से बढ़कर नहीं है। अब अनित्यवादी आक्षेप करता है:—

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥२५॥ (पूर्वपक्ष)

जो वस्तु हो कर न रहे, वह अनित्य कहलाती है, अर्थात् जो उत्पत्ति से पूर्व न हो और नाश के पश्चात् न रहे, वह अनित्य है। जब कि शरीरादि भौतिक पदार्थ और बुद्ध्यादि अभौतिक पदार्थ सब उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले हैं, इस लिये वे सब अनित्य हैं। इस का खण्डन करते हैं:—

नानित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥ (पूर्वपक्ष)

सब अनित्य हैं ऐसा कहने से सब में जो अनित्यता है, उसका नित्य होना सिद्ध होता है। क्योंकि यदि अनित्यता को भी अनित्य मान लिया जावे तो सब का नित्य होना सिद्ध हो जायगा और यदि अनित्यता नित्य है तो फिर सब का अनित्य होना कहां रहा। क्या वह अनित्यता सबसे बाहर है? इसपर भी आक्षेप करते हैं:—

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥२७॥ पूर्वपक्ष

वह अनित्यता भी अनित्य है, जैसे अग्नि दाह्य इन्धनादि को नष्ट करके आप भी नष्ट हो जाता है, ऐसे ही अनित्यता भी सब पदार्थों का नाश करके आप भी नष्ट हो जाती है। अब सूत्रकार अपना मत दिखलाते हैं:—

नित्यस्याऽप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥२८॥

नित्य वस्तुओं का खण्डन करना अयुक्त है. क्योंकि, परीक्षा करने से पदार्थों के नित्य और अनित्य दो प्रकार के भेद पाये जाते हैं। अर्थात् जिन पदार्थों की उत्पत्ति किसी कारण से सिद्ध है जैसे शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि, वे सब अनित्य हैं और जिनकी उत्पत्ति किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, जैसे आकाश, काल, आत्मा इत्यादि वे सब नित्य हैं। अतः प्रमाणसिद्ध होनेपर नित्यका खण्डन नहीं हो सकता। अब नित्यवादी आक्षेप करता है:—

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥ (पूर्वपक्ष)

कारणरूप से पञ्चभूत नित्य हैं, किसी प्रमाण से इनका नाश सिद्ध नहीं होता। जब कारण नित्य हैं तो फिर उनके कार्य अनित्य क्यों कर हो सकते हैं। अतः सब पदार्थ नित्य हैं। अब इस का उत्तर देते हैं:–

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥३०॥ (उत्तरपक्ष)

सब पदार्थों को नित्य कहना ठीक नहीं, क्योंकि घट पटादि पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, जिससे उनका अनित्य होना सिद्ध होता है। अतः उत्पत्ति और विनाश कारणों के उपलब्ध होने से सब पदार्थ नित्य नहीं हो सकते।

फिर वादी आक्षेप करता है:—

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥३१॥ (पूर्वपक्ष)

प्रत्येक पदार्थ में भूतों के लक्षण पाये जाते हैं, क्योंकि वे सब

भूतों से बने हैं जैसे घट पृथिवी के परमाणुओं से बना है; पृथिवी के परमाणु नित्यहैं। यद्यपि घट छिन्न भिन्न होकर नष्ट हो जाता है तथापि उसके परमाणुओंका नाशनहीं होता,वे सदा किसी न किसी अवस्थामें वर्तमान रहते हैं। जब समस्त पदार्थ उन्हीं परमाणुओंसे बने हैं, तब उनकी नित्यता का भी निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि भूतों का लक्षण उन में भी विद्यमान है। फिर वादी अपने कथनकी पुष्टि करता है:—

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥ (पूर्वपक्ष)

उत्पत्ति और विनाश के जो कारण देखे जाते हैं वे औपाधिक हैं न कि वास्तविक। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ नित्य होने से उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान होता है और विनाश के उपरान्त भी वर्त्तमान रहता है और यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि घड़ा बनने से पूर्व कुम्हारके ज्ञानमें था और नाशके पश्चात् भी उसके ज्ञानमें रहेगा (प्रश्न) किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। घड़ा पहले मिट्टी में छिपा हुआ था वह प्रकट होगया, इसी का नाम आविर्भाव या उत्पत्ति है। घड़ा टूट कर अपने कारण में लीन होगया। इसी का नाम तिरोभाव या नाश है। दोनों अवस्थाओं में वस्तु की सत्ता विद्यमानरहती है। (उत्तर) आविर्भाव या तिरोभाव नित्य है वा अनित्य ? यदि कहो नित्य है तो हो नहीं सकता, क्योंकि ये दोनों सदा नहीं होते रहते, किन्तु किसी समय विशेष में होते हैं। यदि कहो अनित्य हैं तो फिर इनके द्वारा जो पदार्थ उत्पन्न या नष्ट होते रहते हैं वे नित्य किस प्रकार हो सकते हैं? (प्रश्न) हमने तो प्रत्येक पदार्थ में पञ्चभूतों के लक्षण होने से उनको नित्य माना है। (उत्तर) यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने कारणरूप परमाणुओं के संयोग से बनाहै और वह संयोग किसी समय विशेषमें हुआ है जो किसी समय विशेष में हुआ हो और समय विशेष तक रहे, सदा न रहे, वह नित्य नहीं हो सकता। (प्रश्न) उत्पत्ति का कोई कारण नहीं, केवल स्वप्न दृष्ट वस्तुओं की तरह उसका अभिमान होता है, वास्तवमें वह कल्पित है। (उत्तर) यदि कार्य वस्तु स्वप्न के समान कल्पित हैं, तो कारण पञ्चभूतों को भी कल्पित मानना पड़ेगा, जिससे सब को नित्य सिद्ध करते २ पञ्चभूत भी नित्य न रहेंगे। सूत्रकार स्वयं इसका उत्तर देते हैं:—

न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥ (उत्तरपक्ष)

सब को नित्य मानने से यह उत्पत्ति होती है, यह विनाश है, यह व्यवस्था नहीं रह सकती। क्योंकि जब उत्पत्ति से पहले वह पदार्थ विद्यमान है, तो फिर उत्पत्ति किसकी और कैसी? ऐसे ही नाश के पश्चात् उसके विद्यमान रहने पर नाश किसका और कैसा? न उत्पत्ति उत्पत्ति रहेगी और न विनाश विनाश रहेगा। इसके अतिरिक्त इन दोनों में काल का अन्तर भी नहीं रहेगा अर्थात् कब उत्पत्ति हुई और कब विनाश होगा इसकी कुछ व्यवस्था न रहेगी। इससे भूत और भविष्य दोनों कालों का लोप होजायगा केवल वर्त्तमानकाल रहेगा। इसलिये अविद्यमान को रूप विशेष की प्राप्ति उत्पत्ति और स्वरूप हानि ही विनाश है। यही व्यवस्था युक्ति सिद्ध है। अब अनेक वादी आक्षेप करता है :-

सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥ (पूर्वपक्ष)

प्रत्येक पदार्थ पृथक् २ और अनेक हैं, किसी वस्तु की एक सत्ता नहीं, क्योंकि भाव के लक्षण पृथक् २ हैं। जैसे कुम्भ यह पदार्थ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा कपाल घट, पार्श्व ग्रीवा आदि अनेक पदार्थों का समुदाय होने से उन सब का वाचक है, किसी एक वस्तु का नहीं, ऐसे ही अन्य पदार्थों को भी समझना चाहिये। इस लिये जाति आकृति और व्यक्ति भी कोई एक पदार्थ नहीं। सूत्रका अभिप्राय यहहै कि सिवाय गुणों या अवयवोंके कोई गुणी या अवयवी नहीं। इस का खण्डन करते हैं :-

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥ (उत्तरपक्ष)

अनेक लक्षणों से एकभाव की सिद्धि होती है, इस लिये अनेक वाद ठीक नहीं। अनेक गुण और भिन्न २ अवयव मिलकर एक गुणी या अवयवी को सिद्ध करते हैं। गुणों से रहित गुणी और अवयवों से पृथक् अवयवी नहीं हो सकता। इस पर और भी हेतु देते हैं :-

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥ (उत्तरपक्ष)

भाव का लक्षण जो संज्ञा है, उसका नियम, एक अवयवी में देखा जाता है। "घडे में पानी भरदो" यह कहने पर कोई मट्टी के परमाणुओं में पानी नहीं भरता और न उन में पानी भरा ही जा सकता है। अवयवी से जो काम सिद्ध हो सकता है वह उस के

अवयवों से नहीं हो सकता। इस से सिद्ध है कि अनेक लक्षणों से एक भाव और अनेक गुणों से एक गुणी सिद्ध होता है। यदि एक न मानोगे तो फिर समुदाय भी न रहेगा अब अभाव वादी आक्षेप करता है :-

सर्वभावो भावेऽष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥३७॥ (पूर्व०)

सब कुछ अभाव है, क्योंकि भावों में परस्पर अभाव की सिद्धि होती है। जैसे घड़े में कपड़े का अभाव है और कपड़े में घड़े का। गौ में घोड़े का अभाव है और घोड़े में गौ का। जब भावों में एक दूसरे का अभाव सिद्ध है, तब सब का अभाव ही क्यों न मान लिया जाय ? अब इसका खण्डन करते हैं:—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ ३८ ॥ (उत्तरपक्ष)

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने २ भाव से वर्त्तमान हैं. उन में अपने से भिन्न पदार्थों का भाव न होना उन के भाव का निषेधक नहीं हो सकता, प्रत्युत साधक है। यदि घट में पट का अभाव है तो घट का तो भाव है, घोड़ा गाय नहीं तो घोड़ा तो है, फिर भाव से अभाव की सिद्धि क्योंकर होगी ? अतएव सब पदार्थों में अपना २ भाव होने से अभाव किसी का नहीं हो सकता। वादी फिर आक्षेप करता है:—

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥ (पूर्वपक्ष)

अपने भाव की सिद्धि आपेक्षिक होने से विना एक दूसरे की अपेक्षा के सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि जैसे छोटे की अपेक्षा बड़ा और बड़े की अपेक्षा छोटा सिद्ध होता है, वैसे ही घट की अपेक्षा पट और गौ की अपेक्षा अश्व की सिद्धि होती है। इस लिये विना दूसरों की अपेक्षा के स्वतः किसी भाव की सिद्धि नहीं हो सकती अब इस का उत्तर देते हैं:—

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि घोड़ा गाय की अपेक्षा से है तो गाय किस की अपेक्षा से है, यदि कहो घोड़े की तो इस में अन्योन्याश्रय दोष आयेगा। दोनों अपनी २ सिद्धि में एक दूसरे के आश्रित होंगे। जिस से अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। इस लिये सम्पूर्ण पदार्थ अपनी सिद्धि में निरपेक्ष हैं। अब संख्यावाद की परीक्षा की जाती है:—

सङ्ख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुप—
पत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ४१ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि कार्य और कारण भिन्न २ हैं, तो भेद के सिद्ध होने से इन का एकान्त सिद्ध न होगा और यदि इन में अभेद है तो कारण के न होने से कार्य की सिद्धि न हो सकेगी। दोनों हेतुओं से संख्यावाद असिद्ध है।

अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥ (पूर्वपक्ष)

कारण कार्य का एक अवयव है और समष्टि व्यष्टि से पृथक् नहीं, क्योंकि जो गुण समष्टि में होते हैं, वही उस की व्यष्टि में भी होते हैं। इस लिये एक का निषेध नहीं हो सकता। क्योंकि सब कार्य एक ही कारण के अवयव हैं, इस लिये वे उस से पृथक् नहीं। अब इस का खण्डन करते हैं:—

निरवयवत्वादहेतु ॥ ४३ ॥ (उत्तरपक्ष)

जब कि कारण का सूक्ष्म होने से निरवयव है, तब कार्य को कारण का अवयव मान कर एक कारण को सिद्ध करना अयुक्त है। क्योंकि जब कारण के अवयव ही नहीं होते, तब उन सब को मिला कर एक पदार्थ कैसे हो सकेगा? (प्रश्न) यदि हम कारण को सावयव मानें, तब तो ऐसा हो सकता है। (उत्तर) सावयव पदार्थ संयुक्त होने से अनित्य होते हैं अर्थात् किसी समय विशेष में उनकी उत्पत्ति होती है और जब उत्पत्ति हुई तो विनाश भी अवश्य होगा। क्योंकि एक तट वाली नदी हो नहीं सकती। इस लिये यदि तुम कारण को सावयव मानोगे तो वह अनित्य होगा। परन्तु कारण नित्य होने से सदा रहता है। अतएव उसका एक होना प्रमाण और युक्ति के विरुद्ध है। जब एक नहीं तो दो, तीन या चार आदि की संख्या नियत करना भी ठीक नहीं। प्रेत्यभाव की परीक्षा समाप्त हुई। अब आगे फल की परीक्षा की जाती है:—

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥४४॥ (पूर्वपक्ष)

बहुत से कर्मों का फल शीघ्र मिलता है, जैसे रोटी पकना, दूध दुहना इत्यादि। बहुत सी क्रियाओं का फल देर में मिलता है, जैसे खेती करना, वृक्ष लगाना, इत्यादि। अब जिन कर्मों का फल शास्त्र में लिखा है अर्थात् 'यज्ञादि करने से स्वर्ग मिलता है' और 'अनृत

भाषणादि से नरक होता है' इस में सन्देह होता है कि कौन कर्म शीघ्र और कौन देर में फलदायक होता है? इसका उत्तर देते हैं:-

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥ ४५ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रत्येक कर्म का फल शीघ्र नहीं मिलता, बहुत से कर्म ऐसे हैं कि उन का फल कालान्तर या जन्मान्तर में मिलता है। (प्रश्न) हम बहुत से कर्मों का फल शीघ्र मिलता हुआ देखते हैं। (उत्तर) कर्म दो प्रकार के हैं एक भोक्तव्य और दूसरे कर्त्तव्य। जैसे बोना और काटना दोनों कर्म हैं, पर बोने का फल देर से और काटने का फल शीघ्र मिलता है। इन में बोना कर्त्तव्य और काटना भोक्तव्य है अतएव जो कर्म कर्त्तव्य हैं अर्थात् आगे के वास्ते किये जाते हैं, उन का फल देर से मिलता है और जो भोक्तव्य हैं अर्थात् भोगने के लिये हैं, उन का फल शीघ्र मिलता है। वादी फिर शंका करता है:-

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ ४६ ॥ (पूर्वपक्ष)

फल के लिये जो यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, वे यहां ही नष्ट हो जाते हैं, जब वे आपही मिट जाते हैं, तो कालान्तर या जन्मान्तर में क्या फल उत्पन्न करेंगे? क्योंकि नष्ट कारण से कोई कार्य्य उत्पन्न नहीं हो सकता, अतएव जन्मान्तर में कर्म फल का मानना ठीक नहीं। अब इसका उत्तर देते हैं:—

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ॥ ४७ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिस फल की इच्छा से पहले किसान भूमि को जोतता, पानी देता और फिर बीज को बोता है और ये सब कर्म फलोत्पत्ति से पहले नष्ट हो जाते हैं। इन के नष्ट हो जानेपर बीज मिट्टी और जलके परमाणुओं से बढ़ता रहता है और फिर क्रमशः पत्ते, डालियां, फूल और फल आते हैं। ऐसे ही प्रत्येक कर्म से धर्माऽधर्मका रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं, फिर वे अन्य कारणों से परिपुष्ट होकर शुभाशुभ फल उत्पन्न करते हैं। वादी फिर शङ्का करता है:—

नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥ (पूर्वपक्ष)

उत्पत्ति से पहले कर्मों के फल को न तो सत् कह सकते हैं, न असत् और न सदसत् ही कह सकते हैं, क्योंकि जो फल आगामी काल में होगा, उसको सत् इसलिये नहीं कह सकते कि वह अब विद्यमान नहींहै। जब विद्यमान नहींहै तो उसके लिये जो कर्म किये जावेंगे, उन में और आगामी होने वाले फल में कार्यकारण-भाव

सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि उत्पत्ति से पहले कार्य को असत् मानें, तो ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक कार्य का कारण उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान होता है। यदि सत् असत् दोनों मानें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि एक पदार्थ में दो विरुद्ध धर्म रह नहीं सकते तात्पर्य यह कि उत्पत्ति से पहले किसी वस्तु का अभाव नहीं हो सकता है, यदि अभाव होता तो वह उत्पन्न क्योंकर होती। न भाव ही हो सकता है क्योंकि यदि उत्पत्ति से पूर्व उसका भाव होता तो फिर उत्पत्ति की आवश्यकता ही न थी। सदसत् भी नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों का परस्पर विरोध है।

अब इसका उत्तर देते हैं :—

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्धोत्पाद—
व्ययदर्शनात् ॥ ४६ ॥ (उत्तरपक्ष)

जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वह उत्पत्ति से पहले असत् होता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है। यदि सत् होता तो उत्पत्ति और नाश नहीं हो सकता था और यह प्रत्यक्ष से भी सिद्ध होता है कि घड़ा पहले नहीं था, कुम्हार ने बनाया फिर टूट गया। असत् के ही उत्पत्ति और नाश होते हैं, सत् के नहीं, इस लिये उत्पत्ति से पूर्व प्रत्येक पदार्थ असत् है।

इसी की पुष्टि करते हैं :—

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् ॥ ५० ॥ (उत्तरपक्ष)

बुद्धि और प्रमाणसे कारणका नियत होना और उससे कार्यका उत्पन्न होना सिद्ध होता है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ कार्यरूपमें आने से पहले असत् है। प्रत्येक कारण में अपने अनुरूपही कार्य उत्पन्न करने की शक्ति होती है। यदि उत्पत्ति से पहले भी उसका भाव माना जावे तो फिर उत्पत्ति का होना नहीं बन सकता। क्योंकि जुलाहा यह जानकर ही कि कपड़ा नहीं है, सूत से कपड़ा बनाता है, यदि बनने से पहले भी कपड़ा मौजूद हो तो फिर उसका बनाना कैसा ? इस लिये सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है, यही सिद्धान्त ठीक है। वादी शङ्का करता है :—

आश्रयव्यतिरेकाद्वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥५१॥ पू०

जिस शरीर ने कर्म किया है, उसके नाश हो जाने पर फल की प्राप्ति किसको होगी ? इसमें वृक्ष का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह

ठीक नहीं, क्योंकि जल सींचना और फल लाना ये दोनों बातें एक ही वृक्ष के आश्रित हैं, अर्थात् जिस वृक्ष में पानी सींचा जाता है, वही कालान्तर में फल लाता है, परन्तु दृष्टान्त में वह बात नहीं है, वहां जिस शरीर से कर्म किया जाता है, वह तो यहीं नष्ट हो जाता है, दूसरा शरीर उस के किये हुए कर्मों के फल को भोगता है, इस लिये आश्रयभेद होने से यह दृष्टान्त ठीक नहीं।

अब इस का उत्तर देते हैं :—

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥ (उ०)

कर्म जो धर्माऽधर्म भेद से दो प्रकार का है, इच्छा से सम्बन्ध रखता है और इच्छा आत्मा का गुण है। शरीर तो केवल उनका अधिष्ठान मात्र है, इस लिये कर्म और उसका फल ये दोनों आत्मा से ही सम्बन्ध रखते हैं, आत्मा दोनों शरीरों में एक ही रहता है, इस लिये वृक्ष का दृष्टान्त सर्वथा उपयुक्त है,

वादी पुनश्शङ्का करता है :—

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादि
फलनिर्देशात् ॥ ५३ ॥ (पूर्वपक्ष)

एक ही आश्रय में कर्म और कर्म फल के होने का नियम नहीं, क्योंकि स्त्री पुत्र आदि भी कर्मों का फल माने जातेहैं, और वे अपने आत्मा से भिन्न हैं, अपना आत्मा उस फल का आश्रय नहीं। इस लिये कर्म और फल इन दोनों का आश्रय एक नहीं, किन्तु भिन्न २ हैं, इसलिये वृक्ष का दृष्टान्त अयुक्त है। इसका उत्तर देते हैं :—

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषुफलवदुपचारः ॥५४॥ (उ०)

पुत्रादि के सम्बन्ध से सुखादि की उत्पत्ति होती है, इस लिये पुत्रादि में फल का उपचार माना गया है। जैसे उपनिषदों में अन्न को प्राण कहा गया है वास्तव में अन्न प्राण नहीं, किन्तु प्राण का पोषक होने से उसी को अन्न कहा गया है। इसी प्रकार पुत्र सुख नहीं, किन्तु सुख का बढ़ाने वाला है, इसलिये उसमें फल का उपचार किया गया है। फल की परीक्षा समाप्त हुई। अब दुःख की परीक्षा की जाती है :—

विविधबाधनायोगाद्दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥५५॥ (उ०)

शरीर का प्रकट होना जन्म है और शरीर तीन प्रकार के हैं

(१) उत्तम (२) मध्यम (३) अधम। उत्तम शरीर देवताओं का होता है, मध्यम मनुष्यों का और अधम असुरोंका या तिर्यक् जन्तुओं का। यद्यपि इनमें दुःख का तारतम्य है, अर्थात् देवताओं के शरीर में दुःख बहुत कम है, मनुष्यों में दुःख सुख बराबर हैं और अधम शरीरों में दुःख बहुत है, तथापि बाधना का योग होने से सब शरीरें दुःखाक्रान्त हैं। तात्पर्य यह कि जन्म ही दुःखका कारण है। इसका मूलोच्छेद विना तत्त्वज्ञान के नहीं हो सकता।

अब इस पर आक्षेप करते हैं:–

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥ (पू०)

मनुष्य को इस जीवन में केवल दुःख ही नहीं है, किन्तु उसमें सुख भी मिला हुआ है क्योंकि दुःख सुख दोनों सापेक्ष्य हैं। दुःख के पश्चात् सुख अवश्य होता है और यदि दुःख नहो तो किसी को सुख का अनुभव ही नहीं हो सकता। अतएव सब को दुःख रूप बतलाना ठीक नहीं। अब इसका उत्तर देते हैं:—

बाधनानिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥५७॥ उ०

सुखार्थी मनुष्य जो सुख के लिये प्रवृत्त होता है, वह पर्येषण दोष से सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य संसार में कुछ न कुछ दुःख अवश्य रखता है। चाहे अविद्या के मद वह उसके प्रभाव को अनुभव न करे। जैसे कोई विक्षत पुरुष मद्य पीकर क्षत की पीड़ा को अनुभव न करे, परन्तु उसे दुःख से मुक्त नहीं कह सकते, ऐसेही संसार के प्रत्येक सुखका परिणाम दुःखहै। (प्रश्न) पर्येषण दोष किसे कहते हैं? (उत्तर) विषयों में अत्यन्त लिप्सा को पर्येषण दोष कहते हैं जिस वस्तु के प्राप्त करने का यत्न किया जाता है, प्रथम तो वह प्राप्त नहीं होती, या प्राप्त होकर नाश होजाती है और उसकी आशा में भी बहुत कुछ कष्ट उठाना पड़ताहै और फिर आशा पूरी होकर भी तृप्ति या शान्ति नहीं होती। एक इच्छा पूरी होती है दूसरी और उत्पन्न होजाती है। किसी को संसार का साम्राज्य भी मिल जावे; तब भी जब तक इच्छा है, उसको शान्ति नहीं होती, इसलिये राग दुःख का और केवल वैराग्य ही सुख का कारण है। इसी की पुष्टि करते हैं:—

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥ (उ०)

यदि कोई कहे कि सुख को भी दुःख समझना ठीक नहीं।

सुख के लिये प्रयत्न करते हुवे यदि कोई दुःख उत्पन्न होगा तो उसका भी उपाय हो सकता है, यह बुद्धिमत्ता नहीं कि दुःख की आशङ्का में सुख को भी त्याग दिया जावे। इसका उत्तर यह कि अविद्या के कारण लोग दुःख को ही सुख समझ रहे हैं, जब दुःख के कारण अधिक इकट्ठे हो जाते हैं, तब उनका उपाय भी कठिन होजाता है। इसलिये बुद्धिमान् को पहले ही सोचना चाहिये कि हम जिसको सुख मान रहे हैं, वास्तव में उसका परिणाम हमारे लिये दुःख जनक है। जब तक मनुष्य विवेक के शास्त्र से ममता की फांसी को नहीं काटता, तब तक उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न नहीं होता और वैराग्य के अभाव में कोई सच्चे सुख का अधिकारी नहीं हो सकता। दुःख की परीक्षा समाप्त हुई, अब अपवर्ग (मोक्ष) की परीक्षा की जाती है। प्रथम वादी शङ्का करता है:-

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपर्गाभावः ॥ ५९ ॥ (पूर्वपक्ष)

ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति के लगाव से मोक्ष सिद्ध नहीं होता, प्रत्येक मनुष्य के ऊपर तीन ऋण होते हैं, (१) देवऋण (२) ऋषिऋण (३) पितृऋण। जबतक मनुष्य इन तीनों ऋणों को नहीं चुका लेता, मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता, यह शास्त्र की आज्ञा है अपने अल्प जीवन में मनुष्य इन्हीं ऋणों को नहीं चुका सकता, फिर उसे मोक्ष के लिये समय कहां मिल सकता है। अविद्यादि क्लेशों के लगाव से भी मोक्ष की सम्भावना नहीं होसकती क्योंकि मनुष्य यावज्जीवन क्लेशों में बंधा हुआ रहता है और मरणानन्तर भी क्लेश संस्कारों के अनुबन्ध से जन्म लेता है, तब मोक्ष साधन के लिये समय कहां रहा ? प्रवृत्ति के लगाव से भी मोक्ष का होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक प्राणी यावज्जीवन मन वाणी और शरीर से कुछ न कुछ कर्म करता हुआ धर्माऽधर्म का उपार्जन करता ही रहता है, फिर मोक्ष के लिये अवसर कहां ?

अब इसका उत्तर देते हैं:—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥ (उत्तरपक्ष)

शास्त्र में जहां मनुष्य के ऊपर तीन ऋण बतलाये गये हैं, वहां ऋण शब्द का प्रयोग औपचारिक है। तात्पर्य्य यह है कि जैसे देवऋण का चुकाना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है. ऐसे ही ऋण के तुल्य देव,

ऋषि और पितरों की पूजा करना भी प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। इन कर्मों की आवश्यकता और प्रशंसा जतलाने के लिये यहां गौणिक ऋण शब्द अनुवाद किया गयाहै। इसलिये वे लोग जो पुत्रैषणा और वित्तैषणा लोकैषणा इनतीनों एषणाओंसे निवृत्त होगयेहैं (चाहे वे किसी आश्रम में हों) इन तीनों ऋणों के लिये वाध्य नहीं होसकते। ऐसे लोगों के लिये शास्त्र यह भी आज्ञा देता है कि जिस दिन उनको वैराग्य उत्पन्न हो, मोक्ष के लिये यत्न करें। अतएव ऋणविधायक वाक्यों के अर्थवादपरक होने से मोक्ष का अभाव नहीं हो सकता। फिर इसी की पुष्टि करते हैं :-

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् ॥६१॥ (उत्तरपक्ष)

प्रत्येक शास्त्र उसी वात का वर्णन करता है, जो उस का प्रतिपाद्य विषय है; दूसरे के प्रतिपाद्य में वह हस्तक्षेप नहीं करता। ब्राह्मण ग्रन्थ जिन में अधिकतर यज्ञ का वर्णन है, गृहस्थाश्रम से संवन्ध रखते हैं। इस लिये उन में विशेष कर गृहस्थ के धर्मों का ही वर्णन है, परन्तु वे अन्य आश्रम या उनके धर्मों का खण्डन नहीं करते। इसी प्रकार वेदान्तशास्त्र उपनिषदादि जो अधिकतर मोक्षधर्मों का विधान करते हैं, वे गृहस्थादि आश्रम या उनके धर्मों के विरोधी नहीं। अतएव गृहस्थ के अधिकार में ऋणादि का विधान होने से मोक्ष शास्त्र में कुछ वाधा नहीं पड़ती। फिर इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं:-

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ६२ ॥ (उत्तरपक्ष)

संन्यासीके लिये आहवनीयादि तीनों अग्नियों के त्यागका श्रुति में उपदेश किया गया है अर्थात् संन्यासी आत्मा में तीनों अग्नियों का समारोपण कर देवे। इस लिये संन्यासाश्रम में अग्निहोत्रादि नित्य कर्म के न करने से पाप नहीं होता। क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मों का फल स्वर्ग है, संन्यासी को स्वर्गफल की कामना नहीं होती। इस लिये जिस फल की इच्छा नहीं उसके लिये वीज वोने की क्या आवश्यकता है ? अतएव वीतराग मुमुक्षु के लिये ऋणादिवन्धन की कोई आवश्यकता नहीं। (प्रश्नः) शास्त्र में यह जो कहा है कि विना तीन ऋणों को चुकाये जो मोक्ष की आशा करता है, उसकी आशा कभी पूरी नहीं होती, इसकी क्या गति होगी ? (उत्तरः) सर्वसाधारण के लिये जो सांसारिक कामनाओं में अनुरक्त हैं, शास्त्र की

यह आज्ञा है, परन्तु जो संसार से विरक्त होगये हैं और तीनों एप-णाओं का जिन्होंने त्याग कर दिया है, निन्दा स्तुति, मानापमान और हर्ष, शोक आदि द्वन्द्व जिन पर अपना अच्छा या बुरा प्रभाव नहीं डाल सकते, ऐसे तत्वदर्शी और आत्मज्ञ लोगोंके लिये शास्त्र में इस नियम का अपवाद भी मौजूद है। अतएव ऐसे लोगों के लिये ऋणादि का वन्धन नहीं है। अव क्लेशानुबन्ध का उत्तर देते हैं:—

सुपुप्तस्य स्वप्नदर्शनेक्लेशाभावादपवर्गः ॥६३॥ (उत्त०)

जैसे गाढ़ निद्रा में सोये हुवे पुरुष को इन्द्रिय और मन का विषयों के साथ सम्बन्ध न रहने से सुख दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं होता। ऐसे ही मुक्तावस्था में केवल आनन्दस्वरूप ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होने से और रागानुबन्ध के टूटजाने से दुःखका अभाव हो जाता है। अतएव मोक्ष में जब क्लेश रहता ही नहीं, तब वह उस का बाधक कैसे हो सकता है। मोक्ष में प्रवृत्ति का वन्धन भी नहीं रहता, इसको अगले सूत्र में दिखाते हैं :—

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥६४॥ (उत्त०)

राग, द्वेष और मोह ये तीन दोष क्लेश के कारण हैं ये तीनों दोष जिसके निवृत्त होजाते हैं, उसकी प्रवृत्ति वन्धन का कारण नहीं होती। प्रवृत्ति वन्धन का कारण वहीं होती है, जो राग से उत्पन्न होती है और जो निष्काम प्रवृत्ति है, वह कभी वन्धन का कारण नहीं हो सकती। अब इस पर शङ्का करते हैं :—

न क्लेशसन्ततेः स्वभाविकत्वात् ॥ ६५ ॥ (पूर्वपक्ष)

क्लेश सन्तति दुःखादि जीवात्मा के स्वाभाविक गुण हैं, फिर उनका नाश किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि स्वाभाविक गुणों का नाश नहीं होता, और जिसका नाश हो वह स्वाभाविक नहीं इसका आँशिक समाधान करते हैं :—

प्रागुत्पत्तेरभावाऽनित्यत्ववत्स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ।
॥ ६६ ॥ (पूर्वपक्ष)

किसी पदार्थ की उत्पत्ति से पहले उसका अभाव अनित्य होता है, अर्थात् किसी वस्तु के उत्पन्न होने से पूर्व जो उसका अभाव है, उसकी उत्पत्ति का कोई कारण और समय नहीं। परन्तु उसका नाश उस वस्तु के उत्पन्न होने से होजाता है, अर्थात् अब वह अभाव नहीं रहता। ऐसे ही क्लेश स्वाभाविक होने पर भी नाश

हो सकता है। इस से मुक्ति का होना सम्भव है। वादी फिर कहता है :—

अणुश्यामतानित्यवद्वा ॥ ६७ ॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे परमाणुओं में श्यामता स्वाभाविक है, किन्तु वह अग्नि के संयोगसे नष्ट होजाती है, ऐसे ही क्लेशसन्तति स्वाभाविक होने पर भी अनित्य हो सकती है। इन दोनों हेतुओं को जो ऊपर के सूत्रों में दिये गये हैं और जिन में स्वाभाविक गुण का नाश माना गया है, अपर्याप्त समझकर सूत्रकार अब अपना मत प्रकाश करतेहैं

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥६८॥ (उत्तर०)

रागादि आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति का कारण सङ्कल्प है। तत्वज्ञान के होने पर जब सारे सङ्कल्प और विकल्प निवृत्त हो जाते हैं, तब कारण के अभाव में रागादि कार्य उत्पन्न ही नहीं होसकते। इसलिये रागादि का प्रवाह से अनादि होना तो सम्भव है, परन्तु स्वरूप से ये अनादि कभी नहीं हो सकते। अतएव ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति ये तीनों मोक्ष के बाधक नहीं हो सकते।

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमान्हिकं समाप्तम्।

अथ द्वितीय मान्हिकम्।

अपवर्ग की परीक्षा समाप्त हुई, अब दूसरे आन्हिक में तत्त्वज्ञान की परीक्षा आरम्भ की जाती है :—

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥१॥ (उ०)

शरीर से लेकर दुःख तक जो दश प्रमेय गिना आये हैं, उनकी उत्पत्ति दोषों से होती है। जब तत्वज्ञान होता है, तब जीवात्मा को इन में अहङ्कार नहीं रहता, अर्थात् मैं शरीर हूं या इन्द्रियादि का समुदाय हूं, यह भाव नहीं रहता, इसलिये शरीरादि की आवश्यकताओंकोभी वह अपनी आवश्यकता न समझकर उनसे उदासीन हो जाता है अर्थात् उसे किसी सांसारिक पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि सांसारिक वस्तुओं की अपेक्षा शरीरादि के लिये है, आत्मा के लिये नहीं। शरीरादि में आत्मबुद्धि रखता हुआ ही मनुष्य विषयों में अनुरक्त होता है। तत्वज्ञान से जब वह यह जानलेता

है कि न शरीरादि मेरे हैं और न मैं इनका हूं, तब उसका अहङ्कार मिट जाता है। अहङ्कारके मिटजाने से उसको शरीरोपगत सुख दुःखादि का अनुभव भी नहीं होता। यदि होता भी है तो वह उसको स्वाभाविक धर्म समझकर उस से प्रसन्न या खिन्न नहीं होता। रागादि के कारण क्या हैं, जिन के मिथ्या ज्ञान से दोष उत्पन्न होते हैं :—

दोषनिमित्तरूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ॥२॥ (उत्त०)

रूपादि विषय ही सङ्कल्प के होने से रागादि दोषों के उत्पन्न होने का कारण होते हैं, अर्थात् अनुकूल विषयों से राग करता है, प्रतिकूल से द्वेष। जब तक मनुष्य इन रूपादि बाह्य विषयों से उपरत नहीं होता, तब तक अहङ्कारादि आन्तरिक दोष मिट नहीं सकते। इस लिये शुभ संस्कारों से पहले संकल्प को शुद्ध करना चाहिये, क्योंकि बिना सङ्कल्पशुद्धि के बाह्य विषयों से उपराग नहीं होता और बिना बाह्य विषयों से उपराग हुवे अहङ्कारादि आध्यात्मिक शत्रुओं का नाश नहीं हो सकता। अब दोषका विशेष कारण बतलाते हैं :—

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः ॥ ३ ॥ (उत्तरपक्ष)

सङ्कल्पकृत रूपादि विषय तो रागादि दोषों के साधारण कारण हैं, परन्तु इनका विशेष कारण अवयवी का अभिमान है। "यह देह मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह पुत्र मेरा है" इत्यादि भौतिक पदार्थों में जो ममत्वबुद्धि का होना है, यह अवयवी का अभिमान कहलाता है। जब तक यह अभिमान नहीं टूटता अर्थात् मनुष्य यह नहीं समझता कि "न मैं किसी का हूं और न मेरा कोई है, यह सब सम्बन्ध कल्पित और क्षणिक है।" तब तक राग द्वेष का बन्धन जिस में संसारी पुरुष जकड़े हुवे हैं, छूट नहीं सकता। इसलिये मुमुक्षु पुरुष को केवल बाह्य विषयोंसे उपरत होकर संतुष्ट न होना चाहिये, किन्तु इस अहङ्कार के कीड़े को शरीर से निकाल कर फैंकना चाहिये, जो सारे शरीर में दोषों का विष फैला देताहै। अब अवयवी की परीक्षा करतेहैं। प्रथम संदेहका कारण बतलातेहैं—

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्संशयः ॥ ४ ॥ (पूर्वपक्ष)

जहां सत् और असत् दो प्रकार का ज्ञान होने से विद्या दो प्रकार की है, वहां इन दोनों का ज्ञान न होने से अविद्या भी दो

प्रकार की है। इसलिये एक अवयवी के होने में संदेह होता है उस का ज्ञान सत् है वा असत्? यदि यह कहा जावे कि अवयवी का ज्ञान नहीं होता वह कल्पित है, तो अविद्या के दो भेदों में होने से संदेह होता है, इसी प्रकार यदि उसका ज्ञान माना जावे तो भी विद्या के दो भेद होने से संदेह होता है। इस लिये अवयवी संदिग्ध है। आगे इसका उत्तर देते हैं :-

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥

दूसरे अध्याय में हेतुओं से अवयवी का होना सिद्ध कर चुके, जब तक उन हेतुओं का खण्डन न किया जावे, तब तक अवयवी के होने में सन्देह नहीं हो सकता। दूसरे पक्ष में भी अवयवी असन्दिग्ध है :-

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥ ६ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि अवयवी का अभाव मान लिया जावे तो भी उस में संदेह नहीं हो सकता, क्योंकि जो वस्तु है उसी में सन्देह होता है और जो वस्तु नहीं, उस में सन्देह कैसा? अब वादी आक्षेप करता है :-

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥७॥ (पूर्व०)

प्रत्येक वस्तु में परिणाम भेद से और एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु का सम्बन्ध न होने से अवयवी सिद्ध नहीं होता और जिस देश में अवयव रहते हैं उसमें अवयवी के न रहने से नहीं दूसरे अवयवों के रहने से किन्तु प्रत्येक के भिन्न २ देशों में रहने से अवयवों का एक दूसरे से संबंध नहीं हो सकता, जब अवयव ही भिन्न २ हैं तो उनका एक अवयवी कैसे सिद्ध हो सकेगा? फिर आक्षेप की पुष्टि करते हैं :-

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥८॥ (पूर्वपक्ष)

अवयवों में भी अवयवी के रहने से अवयवी का अभाव मानना पड़ता है क्योंकि अवयवों के भिन्न २ होने से उन में एक अवयवी नहीं रह सकता। जब एक २ अवयव में अवयवी का अभाव है तो सब अवयवों में भी उस का अभाव मानना पड़ेगा। इसलिये अवयवी कोई वस्तु नहीं। फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥ (पूर्वपक्ष)

यदि यह मान लिया जावे कि अवयवों से अवयवी भिन्न है, वह विभक्त हो कर एक २ अवयव में रहता है तो उसका अवयवों

से भिन्न होना सिद्ध नहीं होता। इस लिये अवयवों से भिन्न कोई अवयवी नहीं है। फिर आक्षेप की पुष्टि करते हैं:—

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥ (पूर्वपक्ष)

यदि यह मान लिया जाय कि अवयवों और अवयवी में भेद नहीं है, अवयव ही अवयवी हैं, तो यह हो नहीं सकता क्योंकि तन्तु को वस्त्र और स्तम्भ को गृह कोई नहीं मान सकता। अब सूत्रकार इन आक्षेपों का उत्तर देते हैं:—

एकस्मिन् भेदाभावाद्भेदशब्दप्रयोगानु—
पपत्तेरप्रश्नः ॥ ११ ॥ (उत्तरपक्ष)

यह प्रश्न कि प्रत्येक अवयव में सम्पूर्ण अवयवी रहता है या उसका कोई भाग ? अयुक्त और असङ्गत है। क्योंकि अवयवों के समुदाय को अवयवी कहते हैं, उस में और अवयवों में कोई भेद नहीं है। शर्करा का एक अणु भी शर्करा ही है, नमक की एक डेलो भी नमक ही कहलाती है। जब अवयव और अवयवी में भेद ही नहीं है तो भेद की कल्पना करके यह प्रश्न करना कि "अवयवी सब देशों में रहता है या एक देश में" नहीं बन सकता। अब दूसरे हेतु का खण्डन करते हैं:—

अवयवान्तराभवेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥ (उत्तरपक्ष)

वादी ने एक अवयवी के दूसरे अवयवों में न होने से जो अवयवी का अभाव सिद्ध किया गया था, वह भी ठीक नहीं क्योंकि अवयव और अवयवी में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध तभी रह सकता है जब कि अवयवी अपनी वृत्तियों से सम्पूर्ण अवयवों में वर्त्तमान हो। इस पर आक्षेपः—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥१३॥ (पू०प)

जैसे न्यून दृष्टि वाले पुरुष को एक बाल नहीं दीखता, किन्तु केशों का समूह दीख पड़ता है। ऐसे ही एक अणु के न दीखने पर भी अणुसमूह घटादि का प्रत्यक्ष होता है। इस लिये अवयवों का समुदाय ही अवयवी है। उस से भिन्न और कोई अवयवी नहीं। इसका उत्तरः—

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद् विषयग्रहणस्यप तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥ १४ ॥ (उत्तरपक्ष)

तीव्र होने की दशा में इन्द्रिय अपने विषय को शीघ्र ग्रहण करते हैं, मन्द होने पर देर से ग्रहण होता है। परन्तु इन्द्रियों की यह तीव्रता और मन्दता केवल अपने विषयों में होती है, दूसरे इन्द्रियों के विषय में नहीं। तीव्र दृष्टि-पुरुष रूप को ग्रहण कर सकता है, गन्ध, रसादि को नहीं। परमाणु सूक्ष्म होने से किसी इन्द्रिय का विषय नहीं। इस लिये विना सङ्घात के पृथक् २ एक २ अणु इन्द्रियका विषय नहीं। यदि अवयवी को अवयवोंके सङ्घातसे भिन्न कोई वस्तु न माना जावे तो अवयवीका ग्रहण भी इन्द्रियों से न होना चाहिये। क्योंकि जब एक अणु निरवयव है तो उसका समुदाय भी सावयव नहीं हो सकता। अतएव अवयवी अवयव समुदाय से भिन्न है और वही अवयव समुदाय को इन्द्रियग्राह्य बनाता है। इस पर आक्षेपः—

अवयवावयवप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥ (पूर्वपक्ष)

अवयवी अवयवों के सब देशों में है वा एक देश में, जैसे यह प्रश्न किया गया था, ऐसे ही यह प्रश्न भी हो सकता है कि अवयव अवयवी के एक देश में रहता है वा सब देशों में, फिर अवयवों के भी अवयव परमाणुओं के विषय में भी यही प्रश्न होगा यहां तक कि प्रलय पर्यन्त अर्थात् अपने कारण में लीन होने तक यह प्रश्न होता चला जायगा और अन्त में जाकर अभाव या शून्य ही मानना पड़ेगा। फिर यह सन्देह उत्पन्न होगा कि अभाव या शून्य से भाव या उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? इसका समाधानः—

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥ उत्तरपक्ष)

अवयवों के विभाग कल्पित करके अवयवी के खण्डन से जो अभाव सिद्ध किया जाता है, यह ठीक नहीं, क्योंकि यह हेतु निरवयव परमाणुओं का खण्डन नहीं कर सकता। वस्तु का विभाग करते करते जब उसका खण्डन हो सके, तब उसे परमाणु कहते हैं और कारण में लीन होने का नाम नाश है जो कि कार्य का होता है। कारणरूप परमाणु का जो कि विभागके अयोग्य है, नाश नहीं होता। जब परमाणु का प्रलय नहीं है, तब अभाव किसी वस्तु का नहीं हो सकता। अब परमाणु का लक्षण कहते हैं:—

परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥ (उत्तरपक्ष)

किसी वस्तु का विभाग करते २ जब वह इस दशा को पहुंच

जावे कि फिर उसका विभाग न हो सके उसको परमाणु कहते हैं। अब परमाणु के निरवयव होने पर आक्षेप करते हैं:—

आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥ (पूर्वपक्ष)

परमाणु का निरवयव होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि परमाणु के भीतर आकाश मौजूद है और बाहर भी आकाश है। जब कि परमाणु व्याप्य है तो फिर वह निरवयव क्योंकर हो सकता है ? अतएव परमाणु सावयव होनेसे अनित्य है। पुनः वादी कहता है:—

आकाशासर्वगतत्वं वा ॥ १९ ॥ (पूर्वपक्ष)

यदि परमाणु में आकाश का होना नहीं मानोगे तो आकाश सर्व व्यापक न रहेगा अब इसका उत्तर देते हैं:—

अन्तर्बहिश्चाकार्यद्रव्यस्य कारणान्तर—
वचनादकार्ये तदभावः ॥ २० ॥ (उत्तरपक्ष)

भीतर और बाहर इन शब्दों का व्यवहार कार्य वस्तु और उस के भागों में हो सकता है, परमाणु के कार्य न होने से उस में यह व्यवहार नहीं हो सकता। क्योंकि सूक्ष्म कारण का नाम जिस का विभाग न हो सके, परमाणु है।

फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्वगतम् ॥२१॥ (उत्तरपक्ष)

कोई सावयव पदार्थ आकाश की व्यापकता से रहित नहीं हो सकता। कठिन से कठिन धातु और पाषाणादिक में भी आकाश विद्यमान है। इसका प्रमाण यह है कि सब पदार्थों में संयोग और शब्द की उत्पत्ति देखने में आती है।

अब आकाश के लक्षण कहते हैं:—

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥२२॥ (उ०)

किसी वेग से जाते हुये पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ से टक्कर खाकर लौटने का नाम व्यूह और उसका रुक जाना विष्टम्भ कहलाता है, ये दोनों धर्म सावयव पदार्थों में होते हैं। आकाश निरवयव है, इस लिये उससे मिलकर न तो कोई पदार्थ लौट सकता है और न रुकही सकता है, व्यूह और विष्टम्भ न होनेसे ही आकाश विभु है अर्थात् उसकी गति का कहीं अवरोध नहीं। अतएव आकाश के व्यापक होने से परमाणुओं के निरवयव और नित्य

होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। अब वादी फिर शङ्का करता है:—

मूर्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः २३ ॥ (पू०)

जितने परिच्छिन्न और स्पर्शवान् द्रव्य हैं, उनका कुछ न कुछ आकार देखने में आता है, चाहे वह त्रिभुज हो या चतुर्भुज या वर्त्तुलाकार या पिण्डाकार इत्यादि। और जिसका आकार होता है, वह संयुक्त है। परमाणु भी परिच्छिन्न और स्पर्शवान् है, इस लिये वह निरवयव नहीं हो सकता। इसी की पुष्टि करते हैं:—

संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ॥ (पूर्वपक्ष)

संयोग भी परमाणुओं का धर्म है, सब तीन परमाणु आपस में मिलेंगे तौ दो इधर उधर होंगे और एक बीच में। इस से उन के पर और अपर भाग भी कहलायेंगे। जब परमाणुओं का संयोग होता है और उस के पर और अपर भाग भी होते हैं, तब वे निरवयव क्योंकर हो सकते हैं? अब इसका समाधान करते हैं:—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ २५ ॥

जो पदार्थ सावयव है और जिस में संयोग होता है, वह आकारवान् और अनित्य है। दोनों हेतु अनवस्था दोषयुक्त हैं। जिसकी कोई स्थिति न हो, उसे अनवस्था कहते हैं। यदि परमाणु को परिच्छिन्न न माना जावे तो उस में अनवस्था दोष आवेगा। क्योंकि अपरिच्छिन्न होने से उसके विभाग होते ही चले जावेंगे, कहीं पर उनकी समाप्ति न होगी। इसलिये अनवस्थित होनेसे यह हेतु माननीय नहीं। अब जब विज्ञानवाद अर्थात् सब पदार्थ भावाश्रित हैं, अर्थात् बुद्धि में ही ठहरे हुवे हैं; वास्तव में कुछ नहीं, की परीक्षा की जाती है:—

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥ २६ ॥

यदि कपड़े में से एक २ तार अलग करके देखें तो कपड़ा सिवाय तारों के और कोई वस्तु ही नहीं ठहरता अतएव कपड़ा केवल बुद्धि का विषय है, वास्तव में कुछ नहीं। प्रत्येक वस्तु की यही दशा है कि वह वस्तु तो कुछ नहीं, पर उसका ज्ञान होता है। इस लिये प्रत्येक वस्तु का जो ज्ञान है, वह मिथ्या ज्ञान है। या यूं

समझो कि ज्ञान के सिवाय और किसी पदार्थ की सत्ता वास्तविक नहीं। क्योंकि जो कुछ मालूम होता है वह ज्ञान ही से है और ज्ञान ही है। इसलिये विज्ञानही एक पदार्थ है और कुछ नहीं। (प्रश्न) हमतो ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञेय की सत्ता प्रत्यक्ष देखते हैं, यदि ज्ञेय न हो तो किसका ज्ञान हो? जैसे हमारे सामने यह गाड़ी खड़ी है इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। (उत्तरः) गाड़ी कोई पदार्थ नहीं उसकी रचना केवल ज्ञान ने की है। पहिया धुरा और वस्त्र आदि का नाम गाड़ी रख लिया है। इसी प्रकार पहिये आदि भी कोई वस्तु नहीं। एक गोल चक्र और कई डंडों का नाम पहिया रख लिया है। इस लिये सब पदार्थों की रचना का ज्ञान करता है। अब इसका उत्तर देते हैं:—

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥ (उत्तरपक्ष)

जब किसी पदार्थ की सत्ता है, तब बुद्धि से उसका ज्ञान होता है और जो मिथ्याज्ञान होता है वह भी दो सत्ताओं की विद्यमानता में होता है। यदि दो सत्तायें विद्यमान न हों तो किस का ज्ञान किस में होगा? क्योंकि मिथ्याज्ञान का अर्थ यह है कि अन्य पदार्थ में अन्य पदार्थ का ज्ञान होना। जब कोई पदार्थ सिवाय ज्ञान के है ही नहीं तो किसका ज्ञान किस में होता है? और यह जो हेतु दिया है। कि तारों से पृथक् कपड़ा कोई वस्तु नहीं, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि कपड़े को तार कोई नहीं कहता और न कपड़े का काम तार दे सकता है। इस लिये परस्पर विरुद्ध होने से वादी का हेतु अहेतु है। यदि तारों से कपड़ा पृथक् वस्तु है तो उनके बिना उसका ज्ञान क्यों नहीं होता?

इसका उत्तर देते हैं:—

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥ (उत्तरपक्ष)

सूत की तारें जिन से कपड़ा बनता है, कपड़े का आश्रय हैं और वही उसकी उत्पत्ति का कारण भी है। आश्रित सदा अपने आश्राय के अधीन रहता है, इस लिये कपड़े का सूत के तारों से पृथक् ग्रहण नहीं होता, किन्तु उसके साथ ही उसका भी ग्रहण किया जाता है। परन्तु यह आश्रय आश्रित का भेद बुद्धि से जाना जाता है, इस लिये वे एक नहीं हैं। जिन पदार्थों में आश्रय और आश्रित सम्बन्ध नहीं है, उसका पृथग्ग्रहण होता है। फिर इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं:—

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ॥ २९ ॥ (उत्तरपक्ष)

जो वस्तु जैसी है, उस का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वैसाही ज्ञान होता है और जो बात प्रमाणसिद्ध हो, उसको मानने से कोई नकार नहीं कर सकता, क्योंकि प्रमाण, अर्थ का प्रत्यायक है। यह अमुक वस्तु है, ऐसी है, इतनी है, इत्यादि वस्तुवाद को प्रमाण सिद्ध करता है, अतः केवल विज्ञान वाद ठीक नहीं। और भी हेतु देते हैं—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥ (उत्तरपक्ष)

पदार्थों को शून्य या कल्पित मानना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रमाण से तुम शून्य या कल्पित सिद्ध करोगे, उस की सत्ता तो माननी ही पड़ेगी, उसका भाव मानने से फिर सब का अभाव क्योंकर सिद्ध होगा। एक वस्तु का भी भाव होने से सब का शून्य या कल्पित होना न रहेगा। यदि विना प्रमाण के ही सब को शून्य या कल्पित माना जावे तो इसे कोई बुद्धिमान् स्वीकार न करेगा क्योंकि बिना प्रमाण के किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। वादी शङ्का करता है:—

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥३१॥ पू०

जैसे स्वप्न के प्रमेय पदार्थ कल्पित होते हैं, परन्तु उन का अभिमान होता है, ऐसे ही प्रमाण और प्रमेय का अभिमान भी कल्पित है, वास्तव में कुछ नहीं। इस पर एक दृष्टान्त और देते हैं:—

मयागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥ ३२ ॥ (पूर्वपक्ष)

या जैसे भ्रम से मायिक गन्धर्वनगर या मृगतृष्णा का मिथ्याज्ञान होता है ऐसे ही प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान भी कल्पित और वस्तुशून्य है। इसका उत्तरः—

हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥ (उत्तरपक्ष)

इस प्रतिज्ञा के लिये कि स्वप्नपदार्थ कल्पित हैं, कोई हेतु नहीं है और विना हेतु के प्रतिज्ञा करने से कोई बात सिद्ध नहीं होती। यदि यह हेतु दिया जावे कि जाग्रत अवस्था में उन के अभाव से उनका मिथ्या होना सिद्ध होता है। तो जाग्रदवस्था के विषयों का भाव मानना पड़ेगा, जिससे वाह्य पदार्थों का भाव सिद्ध होगा जब वाह्य सिद्धहो गए तो उन्हींका प्रतिबिम्ब स्वप्न पदार्थभीहै (चाहे वे भ्रम से कुछ का कुछ दीखें) यदि कहाजावे कि जाग्रदवस्था के

पदार्थ भी मिथ्या है तो स्वाप्न पदार्थों का खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि जाग्रदवस्था को सत्य मान कर स्वप्नावस्था का असत्य होना कहा जाता है। जब जाग्रदवस्था ही मिथ्या है तो फिर स्वप्नावस्था का मिथ्या होना किस की अपेक्षा से मानते हो। किसी वस्तु के भाव से उस के अभाव का ज्ञान होता है। जैसे बैल के शृङ्ग होने से मनुष्य के शृङ्ग का अभाव कहा जाता है। यदि किसी के सींग होते ही नहीं, तो उन को हेतु में रख कर कौन मनुष्य के सींगों का अभाव सिद्ध करता। स्वप्न में जो मिथ्याज्ञान होता है, उस का कोई कारण होना चाहिये - जब उस का कारण जाग्रत् का ज्ञान है तो फिर वह कल्पित कहां रहा। अतएव जब स्वप्नाभिमान ही निर्मूल नहीं, तो फिर प्रमाण प्रमेयाभिमान क्योंकर कल्पित हो सकता है। स्वप्नाभिमान कैसे होता है, इस को दिखलाते हैः—

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥३४॥ (उत्तर०)

जिन कारणों से स्मृति और सङ्कल्प उत्पन्न होते है, उन्हीं कारणों से स्वप्नाभिमान भी होता है, अर्थात् जिन पदार्थों का पहले ज्ञान हो चुका हो, उन के संस्कार मन में विद्यमान होने से स्वप्न में उनका भान होता है, जो वस्तु दृष्ट या श्रुत न हो, उसका स्वप्न में भी भान नहीं होता। यहां दृष्ट से अभिप्राय ज्ञात से है। ज्ञात पदार्थों को जब स्वप्न में बाह्य शरीर और इन्द्रिय काम करने से रुक जाते हैं, सूक्ष्म शरीर और मन उन को स्मरण करता है, यही स्वप्न कहलाता है। यदि स्वप्न और जागरण में कुछ भेद न होता तो स्वप्नाभिमान कहना बन ही नहीं सकता था। तात्पर्य यह कि जैसे स्मृति और सङ्कल्प पूर्वज्ञात विषयों को सिद्ध करते हैं, ऐसे ही स्वप्नाभिमान भी जाग्रत् के अनुभूत विषयों का स्मारक और साधक है। (प्रश्न) हम प्रायः स्वप्न में अपना शिर कटा हुआ और अपने को आकाश में उड़ता हुआ देखते हैं। यह हमारा पहले देखा हुआ या सुना हुआ कब है ?

उत्तरः—हमने दूसरों के शिर कटे हुवे और पक्षी आकाश में उड़ते हुवे देखे या सुने हैं। इन के संस्कार हमारे मन में भरे हुवे होते हैं। स्वप्न में इन्द्रियों का अर्थों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान नहीं होता, किन्तु केवल मानसिक ज्ञान होता है और मन उस समय विकल्पवृत्ति के अधीन होकर उनको यथेच्छ रचना करने लगता है, अन्य के धर्म को अन्य में आरोप करने लगता है। अतएव स्वप्न भी

एक प्रकार की स्मृति है, चाहे वह मिथ्या और बनावटी हो। भ्रांति का निरोध किस प्रकार हो सकता है:—

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिस प्रकार जाग्रदवस्था में स्वप्न का अभिदान नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के होने पर मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है। (प्रश्न) मिथ्याज्ञान किसे कहते हैं ? (उत्तर) जैसे दूर से स्थाणु को देखकर यह भ्रम होता है कि यह पुरुष है वा क्या ? ऐसे ही वस्तु कुछ और हो और उसको समझा कुछ और जावे, इस को मिथ्याज्ञान कहते हैं। (प्रश्न) तत्त्वज्ञान किसे कहते हैं ? (उत्तर) जो पदार्थ जैसा हो, उस को वैसा ही जान लेना तत्त्वज्ञान कहलाता है, स्थाणु को स्थाणु और पुरुष को पुरुष समझना यही तत्त्वज्ञान है। कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता, किन्तु उस का तत्त्वज्ञान होने से मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसे बालू को देखकर जो जल का ज्ञान हुआ था, यथार्थज्ञान होने पर बालू नष्ट नहीं हो जाती, किन्तु उसको जो भ्रम से पानी समझ लिया था, यह मिथ्याज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार जाग्रत् में पदार्थ या उनके संस्कार नष्ट नहीं होते, किन्तु स्वप्नविषयक उनका मिथ्याभिमान दूर हो जाता है।

अब मिथ्याज्ञान की सत्ता सिद्ध करते हैं:—

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥३६॥ (उत्त०)

जैसे वस्तुसत्ता अनिवार्य है अर्थात् उस का अभाव नहीं हो सकता, वैसे ही मिथ्या बुद्धि का भी अभाव नहीं होता केवल जिस को तत्त्वज्ञान हुआ है, उस के आत्मा से मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है, अन्यत्र उस की उत्पत्ति और स्थिति देखी जाती है। अतः निमित्त और सद्भाव के होने से मिथ्याज्ञान की सत्ता है। अब इस के भेद दिखलाते हैं:—

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः॥३७॥ (उ०)

जो वस्तु हो उस को तत्व कहते हैं और जिस का उस में ज्ञान हो उसे प्रधान कहते हैं। तत्व और प्रधान इन दो भेदों के होने से मिथ्याबुद्धि दो प्रकार की है। जैसे रस्सी जो एक वस्तु है, तत्त्व है और सर्प जिस का उस में ज्ञान होता है, प्रधान है। यही कारण है कि रस्सी में सर्प का ज्ञान होता है। यद्यपि तत्त्वज्ञान के होने पर

मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तथापि जब तक तत्वज्ञान नहीं होता, तब तक तो मिथ्याज्ञान की सत्ता (चाहे वह भ्रमात्मक ही हो) माननी पड़ती है। तत्वज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, यह दिखलाते हैं:—

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥ (उत्तरपक्ष)

इन्द्रियों के अर्थों से मनको रोककर आनन्दघन परमात्मा में लगाना समाधि है, और समाधि के अभ्यास करने से तत्वज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान के होने में मन की चञ्चलता सब से बड़ी रुकावट है और जब तक इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध रहता है, तब तक मन स्थिर नहीं होता। जब समाधि के अभ्यास से मनको विषयों से रोका जाता है, तब तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है।

वादी शङ्का करता है:—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥ (पूर्वपक्ष)

समाधि का सिद्ध होना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव सा है क्योंकि इन्द्रियों के अर्थ ऐसे प्रबल हैं कि विना इच्छा के भी मनुष्य को अपनी तर्फ खींचते हैं। जब तक इन्द्रिय वर्त्तमान हैं, और उनके विषय भी संसार में विद्यमान हैं, तब तक यह असम्भव है कि मनुष्य का मन उनसे हट सके। इतना तो एक तर्फ यह तो उन से तृप्त भी नहीं होता। इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:—

क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥ (उत्तरपक्ष)

भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी और बीमारी आदि उपाधियां जो स्वाभाविक हैं, कभी मनुष्य को स्थिरचित्त नहीं होने देतीं। इन स्वाभाविक रुकावटों के होने से समाधिका होना असम्भव है और समाधि के न होने से तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता और तत्त्वज्ञान के अभाव में मुक्ति केवल कल्पित रहजाती है।

अब इसका उत्तर देते हैं:—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥४१॥ (उत्तरपक्ष)

यदि मनुष्य बार २ समाधि के लिये यत्न करे तो पूर्वजन्मकृत कर्मों की सहायता से समाधि सिद्ध हो सकती है। यदि इस जन्म में न होगी तो अगले जन्म में अवश्य होगी। अभ्यास में बड़ी शक्ति है, जब लौकिक कार्य्यों में किया हुआ अभ्यास निष्फल नहीं जाता, तब पारलौकिक कार्य्यों में यह निष्प्रभाव क्योंकर हो सकता।

इसी की पुष्टि में और हेतु देते हैं :—

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥ (उ०)

योगाभ्यास का जो उपदेश किया गया है, वह प्रत्येक स्थान पर नहीं, किन्तु वन, गुहा, नदी तीर आदि एकान्त स्थानों में बैठकर योगाभ्यास करना चाहिये। क्योंकि इन स्थानों में विक्षेप नहीं होते या बहुत ही कम होते हैं, जिन को अभ्यास से निवारण किया जा सकता है। अब शङ्का करते हैं।

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ४३ ॥ (पूर्वपक्ष)

यदि बिना इच्छा के अर्थ मनुष्यको अपनी ओर खींच सकते हैं तो मुक्ति में भी कोई वैषयिक ज्ञान से नहीं बच सकता। क्योंकि मुक्ति में केवल इच्छा ही नहीं होती, संसारके विषय तो बिना इच्छा के भी मुक्त पुरुष को अपनी ओर खींचेंगे।

अब इसका उत्तर देते हैं :—

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥

मुक्तावस्था में स्थूल शरीर के न रहने से बाह्यविषयों का ग्रहण नहीं होसकता। क्योंकि बाह्य विषयों के ज्ञान के लिये चेष्टा और इन्द्रियों के आश्रय शरीर का होना आवश्यक है। परन्तु मुक्तावस्था में न तो शरीर ही रहता है न इन्द्रिय, इसलिये उन से उत्पन्न होने वाला विषय ज्ञान क्यों कर हो सकता है ?

इसी की पुष्टि करते हैं :—

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥ (उत्तरपक्ष)

ज्ञानोत्पत्ति का कारण जो शरीरादि का समुदाय है, धर्माऽधर्म संस्कारों के न रहने से जो शरीरोत्पत्ति का कारण है मोक्ष में उस का अभाव हो जाता है। शरीर के अभाव से चक्षुरादि इन्द्रियों का भी अभाव हो जाता है, इन्द्रियों का अभाव होने से उन के अर्थोंका ज्ञान कैसे हो सकता है। इस लिये मोक्ष में मिथ्याबुद्धि की आशङ्का करना ठीक नहीं। अब मोक्षप्राप्ति के साधन दिखलाते हैं :—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चा-ध्यात्मविध्युपायैः ॥ ४६ ॥ (उत्तरपक्ष)

योगशास्त्र के विध्यनुसार यम नियमादि आठ अङ्गों के द्वारा आत्मसंस्कार करना चाहिये। (प्रश्न) योग के आठ अङ्ग क्या हैं ? (उत्तर) [१] यम [२] नियम [३] आसन [४] प्राणायाम [५]

प्रत्याहार [६] धारणा [७] ध्यान [८] समाधि । इनकी व्याख्या योगदर्शन के साधनपाद में की गई है। (प्रश्न) क्या योगाभ्यास के विना मुक्ति नहीं हो सकती ? (उत्तर) योग के विना तत्त्वज्ञान का होना कठिन है और तत्त्वज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो सकती। इस लिये मुमुक्षु को योगाभ्यास आवश्यक है। (प्रश्न) योग और समाधिसे तत्त्वज्ञान होने में क्या प्रमाण है ? । (उत्तर) यदि कोई पूछे कि मिसरी के मीठा होने में क्या प्रमाण है तो इसका उत्तर यह कि या तो जिन्होंने मिसरी को खाया है, उन से पूछो या खुद खाकर देखलो, इसके सिवाय और क्या प्रमाण हो सकता है। इसी प्रकार या तो योगियोंसे जाकर पूछो या खुद योग करके देखो। योग के अतिरिक्त और भी मोक्ष के साधन हैं :—

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥४७॥ (उ०)

योगसाधन के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति के लिये मुमुक्षु को अध्ययन श्रवण और मनन के द्वारा तत्त्वज्ञान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। इसके अतिरिक्त बुद्धि को परिपक बनाने के लिये तत्त्वज्ञानियों के साथ संवाद भी करना चाहिये। क्योंकि विना अभ्यास के ज्ञान की वृद्धि और विना संवादके बुद्धिकी परिपक्वता और संदेहों की निवृत्ति नहीं होसकती। संवाद किस प्रकार करना चाहिये :—

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रथम तो अपनेसे अधिक विद्वान गुरु से संवाद करना चाहिये, वह संवाद शास्त्रार्थ की रीति पर नहीं, किन्तु जिज्ञासु होकर विनीत भाव से प्रश्न करना चाहिये। और उत्तर पाकर धृष्टता या हठ नहीं करना चाहिये। यदि कुछ सन्देह रहे तो नम्रभाव से विनीत शब्दों में उसे निवेदन करना चाहिये। गुरु के अतिरिक्त ज्ञान की दृढ़ता के लिये अपने सहाध्यायी तथा योग्य शिष्यों के साथ भी प्रेमपूर्वक संवाद करना चाहिये। इस प्रकार संवाद करने से तत्वज्ञान की प्राप्ति में सहायता मिलती है। यदि अपने से अधिक विद्वान् न मिले तो क्या करे:—

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे॥४६॥ उत्तरपक्ष

जिसको तत्वज्ञान की जिज्ञासा हो यदि उसे पूरा तत्वज्ञानी गुरु न मिले तो दूसरे विचारशील पुरुषों से भी प्रति पक्ष हीन होकर

अर्थात् अपना कोई पक्ष स्थापन न करके संवाद करे। जिज्ञासुको आग्रह न करना चाहिये, क्योंकि आग्रही मनुष्य सत्य को प्राप्त नहीं हो सकता। यदि तत्वज्ञान के लिये वाद ही उपयुक्त है तो जल्प और वितण्डा का उपयोग किस अवसर पर करना चाहियेः—

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोह-संरक्षार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥५०॥ (उत्तरपक्ष)

जिस प्रकार बीज बोने वाले का प्रयोजन केवल अन्न और फल से होता है, परन्तु उसकी रक्षा के लिये खेत के चारों तर्फ उसे कांटों की बाड़ लगानी पड़ती है, जिस से दुष्ट जन्तु उस अन्न या फल को जो उसका अभिप्रेत है, नष्ट न कर सकें। इसी प्रकार संवाद का तात्पर्य केवल तत्वज्ञान से है किन्तु हेतुक और नास्तिक लोग अपने कुतर्क हेत्वाभासों से तत्वज्ञान को जटिल और संशयास्पद बना देते हैं, उनसे उसकी रक्षा करने के लिये कभी२ जल्प और वितण्डा की भी आवश्यकता होती है। अतएव अपने अवसर पर ही इन का प्रयोग करना चाहिये, नकि सर्वदा।

॥ इतिचतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ॥

❀ चतुर्थाध्याय समाप्तः ❀

अथ पञ्चमाध्याये प्रथमान्हिकम्।

पहले अध्याय में दिखला चुके हैं कि साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से अनेक प्रकार की जाति होती हैं, जिनका सविस्तर वर्णन इस अध्याय में किया जाता है। जातियों के निम्न लिखित २४ भेद हैं—

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यकार्यसमाः।

१–साधर्म्यसम २–वैधर्म्यसम ३–उत्कर्षसम ४–अपकर्षसम ५–वर्ण्यसम ६–अवर्ण्यसम ७–विकल्पसम ८–साध्यसम ९–प्राप्तिसम १०–अप्राप्तिसम ११–प्रसङ्गसम १२–प्रतिदृष्टान्तसम १३–अनुत्पत्तिसम १४–संशयसम १५–प्रकरणसम १६–हेतुसम १७–अर्थापत्तिसम १८–अविशेषसम १९–उपपत्तिसम २०–उपलब्धिसम

२१—अनुपलब्धिसम २२—नित्यसम २३—अनित्यसम २४—कार्यसम। ये २४जाति भेद हैं अर्थात् एक प्रकार के दोषहैं जो विपक्ष के खण्डन में दियेजाते हैं। जो कि ये साधर्म्यादि का ममतासे उत्पन्न होते हैं, इसलिये इन सब के अन्त में 'सम' शब्द दिया गया गया है। इनका लक्षण आगे क्रमशः सूत्रकार ही करते हैं। प्रथम साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम का लक्षणः—

साधर्म्य वैधर्म्याभ्यामुपसंहार तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यसमौ ॥ २ ॥

जब साधर्म्य से साध्य मेंविपरीत धर्म देखा जावे, तब साधर्म्य से ही साध्य का खण्डन हो जाता है, इस को साधर्म्य सम दोष कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि घटादि उत्पत्तिमान् होने से कार्य है, ऐसेही शब्द में भी उत्पत्तिधर्मक होनेसे कार्यहै, अतएव अनित्य है। इस पर दूसरा कहता है, जैसे आकाश निरवयव होने से नित्यहै वैसेही शब्दभी निर वयवं होनेसे नित्य है। परन्तु ये दोनों दुष्ट हेतु हैं क्योंकि कार्य्य के साथ किसी गुण के मिलने से अनित्य होना और कारण के साथ किसी गुण का साधर्म्य होने से नित्य होना साध्य के निर्णय में पर्याप्त नहीं, इस के लिए किसी अन्य हेतु की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि दो पदार्थों में किसी एक धर्म के मिलने से जो समता का प्रतिपादन करना है, उस को साधर्म्य सम दोष कहते हैं। ऐसे ही वैधर्म्यसम में दो पदार्थों के विरुद्ध धर्मोंको लेकर उनकी विषमता का प्रतिपादन किया जाता है। जैसे कोई कहे कि आकाश के विरुद्ध उत्पत्ति धर्मक होने से शब्द अनित्य है। इस पर दूसरा कहे कि नित्य आकाश में समान सावयव न होने से शब्द नित्य है और घटादि कार्यों से निरवयव होने के कारण शब्द विलक्षण है। यहां भी कोई विशेष हेतु नही क्योंकि शब्द में दोनों धर्म हैं, वह अनित्य घटादि के समान उत्पन्न होनेवाला भी है और नित्य आकाशके सदृश निरवयव भी है। वाद करनेवाले दोनों पक्ष इससे अपना २ प्रयोजन निकाल सकतेहैं। इस लिए ये दोनों निर्णय के प्रतियोगी साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम दोष कहलातेहैं। सारांश यह कि दो पदार्थ परस्पर किसी एकधर्मके मिलने से एक जैसे नहीं हो जाते और नहीं किसी एक धर्म के न मिलने से वे आपस में एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो जाते हैं। इस की पुष्टि करते हैं:—

गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

केवल एकधर्मके साधर्म्य या वैधर्म्यासमसे जो साध्यको सिद्ध किया जाताहै, उस में अव्यवस्था दोष भी होता है। अतएव प्रत्येक पदार्थ की सिद्धि उसके सामान्य धर्मसे होतीहै। जैसे गौ पदार्थ की सिद्धि में गोत्व जाति और गवाकृति ही मुख्य कारण है न कि पुच्छ और विषाणादि, क्योंकि इनकी अतिव्याप्ति महिषादि में भी होती है अब उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, विकल्पसम और साध्यसम का लक्षण कहते हैं:—

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चो त्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥

साध्य और दृष्टान्त के धर्म भेद से दोनों तरह सिद्ध होने वाले उत्कर्षसमादि ६ दोष होते हैं। जहां अविद्यमान धर्म के साथ तुलना करके साध्य को वर्णन किया जावे, उसे उत्कर्षसम कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि घट के सदृश उत्पन्न होने से शब्द भी अनित्यहै, इसके उत्तर में दूसरा कहता है कि अनित्य होना और उत्पत्ति धर्मक होना ये दोनों धर्म रूपवान् पदार्थ में होते हैं; जब शब्द उत्पत्तिधर्मक और अनित्य है तो वह रूपवान भी है। यहां शब्द में रूप नहीं था, परन्तु वादी को परास्त करने के लिये उसकी अधिक कल्पना करली गई, इसी को उत्कर्षसम कहते हैं।

जहां विद्यमान धर्म को साध्य से पृथक् करके वर्णन किया जावे उसे अपकर्षसम कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि रूपरहित आकाश कार्य और अनित्य नहीं इस लिये शब्द भी रूपरहित होने से कार्य और अनित्य नहीं। यहां शब्द में जो उत्पत्ति का धर्म था, उसको रूपरहित होने से पृथक् किया गया। जो साध्य और उस का हेतु वर्णन करने योग्य हैं, वह वर्ण्यसम और जो वर्णन करने योग्य नहीं, वह अवर्ण्यसम कहलाते हैं, वस्तु में कौनसा धर्म वर्णनीय है और कौनसा अवर्णनीय, यह बुद्धि से जाना जाता है, इस लिये इनके दृष्टान्त नहीं दिये। जो धर्म वस्तु को सिद्ध करने वाला है, दृष्टान्त में उन के विकल्प से साध्य को सन्दिग्ध बनाना विकल्प सम दोष कहलाता है। जैसे कहाजावे कि क्रियावान् वस्तु कोई भारी होताहै जैसे लोहा और कोई हलका होता है, जैसे वायु ऐसे ही क्रियावान् कोई परिच्छिन्न हो सकता है जैसे ढेला और कोई विभु हो सकता है, जैसे आत्मा। इसको विकल्पसम कहते हैं।

साध्य में दृष्टान्त के एक धर्म मिलने पर सब धर्मों का साध्य मान लेना साध्यसम दोष कहलाता है। जैसे कोई कहे कि यदि ढेला क्रियावान् है तो आत्मा भी क्रियावान है। यदि आत्मा साध्य है तो ढेला भी साध्य है, इत्यादि दोनों एकसे हैं। अब उक्त आक्षेपों का समाधान करते हैं:—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

जहां कुछ साधर्म्य होता है, वहीं साध्य की सिद्धि होती है, उस में किसी धर्म के विरुद्ध होने से उसका खण्डन नहीं होता। सम्बन्ध सहित किसी धर्म के मिल जाने से उपमान सिद्ध होता है। जैसे यह दृष्टान्त देना कि गौ के सदृश नीलगाय होती है, जिस धर्म में गौ और नीलगाय का सादृश्य है, उसी धर्म के मिलने से दृष्टान्त की उपयोगिता सिद्ध होती है। विरुद्ध धर्म के भेद से समानधर्म की एकता का खन्डन नहीं होता। तात्पर्य्य यह कि जिन अंशों में गौ और नीलगाय में साधर्म्य है, वह विरुद्ध अंशो के वैधर्म्य से खंडित नहीं होता। दृष्टान्त में दार्ष्टान्त का कोई एक धर्म मिलना चाहिये, यह आवश्यक नहीं कि इनके सारे धर्म ही आपस में मिलें। अतएव उत्कर्षसमादि दोषों से वैधर्म्य को लेकर साध्य का खंडन करना ठीक नहीं। इस पर एक हेतु और देते हैं:—

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥

दृष्टान्त में साध्य का एक धर्म मिलना चाहिये, सब धर्मों के मिलने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि सब धर्म मिल जायें तो साध्य में और दृष्टान्त में भेद ही क्या रहा, भेद न रहने से यह फिर साध्य को क्या सिद्ध करेगा? अतएव साध्यसम प्रतिषेध अयुक्त है। अब प्रतिसम और अप्रतिसम का लक्षण कहते हैं:—

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या अविशिष्टत्वादप्राप्त्या असाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ ७ ॥

हेतु साध्य से मिलकर उसको सिद्ध करता है अथवा बिना मिले? यदि मिलकर सिद्ध करता है तो दोनों में किसी एक की विशेषता न होने से कौन सिद्ध करता है और कौन सिद्ध होता है इसकी कुछ व्यवस्था न रहेगी। अर्थात् मिलने से उन में साध्य साधक भाव नहीं रह सकता। यदि बिना मिले हेतु का साध्य को सिद्ध करना मानोगे तो भी साध्य की सिद्धि न हो सकेगी। क्योंकि

दीपक उसी वस्तुको सिद्ध करताहै, जिस पर उसका प्रकाश पड़ताहै जिस वस्तु से उसके प्रकाश का मेल नहीं होता, उस को सिद्ध नहीं करता। अतएव प्राप्तिसे प्राप्तिसम और अप्राप्ति से अप्राप्तिसम दोष उत्पन्न होते हैं। इस का उत्तर देते हैं :—

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः॥८॥

उक्त दोनों प्रकारके खंडन ठीक नहीं, क्योंकि कहीं हेतु की प्राप्ति से और कहीं अप्राप्ति से भी साध्य की सिद्धि प्रत्यक्ष देखने में आती है। घटादि कुम्हार, चाक और मिट्टी के मिलने से सिद्ध होते हैं। अभिचार (साजिस) आदि विना मिले ही गुप्त रीति पर अपना अभाव दिखलाते हैं। इस लिये प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम प्रतिषेध अयुक्त हैं अब प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टान्तसम का लक्षण कहते हैं:-

दृष्टान्तस्य कारणाऽनुपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥ ९ ॥

कारण का कारण और दृष्टान्त का दृष्टान्त नहीं होता, जब कारण के कारण या दृष्टान्त के दृष्टान्त की जिज्ञासा की जाती है, तब फिर उनके कारण और दृष्टान्त का भी प्रसङ्ग उत्पन्न होता है, इसी को प्रसङ्गसम दोष कहते हैं और प्रत्येक दृष्टान्त में इस दोष की सम्भावना करना प्रतिदृष्टान्तसम दोष कहलाता है। जैसे कहा जावे कि क्रियावान् होने से वायु चलता है इस पर प्रतिवादी कहे कि वायु क्रियावान क्यों है ? यह प्रसङ्गसम का उदाहरण है। दूसरे प्रतिदृष्टान्तसम का उदाहरण यह है। यदि घट के दृष्टान्त से शब्द अनित्य है तो आकाश के दृष्टान्त से नित्य है। अब प्रसङ्गसम का खण्डन करते हैं

प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥

जैसे अन्धकार में रक्खे हुवे पदार्थों को जानने के लिये दीपक जलाया जाता है किन्तु दीपक को जानने के लिये दूसरा दीपक नहीं जलाया जाता। ऐसे ही जिस हेतु या दृष्टान्त से साध्य को सिद्ध किया जाता है, उस हेतु या दृष्टान्त की सिद्धि के लिये अन्य हेतु या दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि जिसको लौकिक व परीक्षक सामान्यरूप से समझ सके, वह दृष्टान्त कहलाता है। वस जैसे दीपक की सिद्धि के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती, ऐसे ही दृष्टान्त के लिये अन्य दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं। अब प्रति दृष्टान्तसम का खंडन करते हैं:—

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥११॥

दृष्टान्त के खण्डन में प्रतिदृष्टान्त दिया जाता है, जब दृष्टान्त से साध्य की सिद्धि नहीं होती तो प्रतिदृष्टान्त से उसका खण्डन क्यों कर हो सकता है ? और प्रतिदृष्टान्त की सिद्धि में प्रतिवादी ने कोई विशेष हेतु भी नहीं दिया, यदि प्रतिदृष्टान्त को हेतु न माना जावे। फिर दृष्टान्त ने क्या अपराध किया है जो उसको हेतु माना जावे। अब अनुत्पत्तिसम का लक्षण कहते हैं :—

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥

अनुत्पत्ति से खण्डन करना अनुत्पत्तिसम दोष कहलाता है। जैसे प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से घटके समान शब्द भी अनित्य है, ऐसा कहने पर प्रतिवादी का यह दोष देना कि उत्पत्तिसे पहले अनुत्पन्न शब्द में प्रयत्न के पश्चात् होने वाला धर्म अनित्यता का कारण ही नहीं हो सकता, इस से शब्द का नित्य होना सिद्ध है। इस प्रकार अनुत्पत्ति के दृष्टान्त से उत्पत्ति का खण्डन करना अनुत्पत्तिसम दोष कहलाता है। अब इसका उत्तर देते हैं :—

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥१३॥

उत्पत्ति से पहले शब्द का अभाव है क्योंकि उत्पन्न होकर ही शब्द कहलाता है, उत्पत्ति से पूर्व जब शब्द ही नहीं है, तब अनुत्पत्ति को कारण मान कर उत्पत्ति का खण्डन करना ठीक नहीं। प्रयत्न की आवश्यकता (जो अनित्यता का हेतु है) शब्द की उत्पत्ति से ही सम्बन्ध रखती है। तात्पर्य यह कि जब कार्य ही मौजूद नहीं है, तो उसके कारणका खण्डन कैसा कार्य की विद्यमानता में ही उसके कारण का खण्डन या मण्डन किया जा सकता है। अतएव अनुत्पत्तिसम दोष अनुत्पन्न है। अब संशयसम का लक्षण कहते हैं :—

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने
नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमः ॥१४॥

संशय को हेतु मानकर जिस का खण्डन किया जाय, उसको संशयसम कहते हैं। जैसे यह कहने पर कि घटादि अनित्य कार्यों के सदृश क्रिया से उत्पन्न होनेके कारण शब्द अनित्य है। प्रतिवादी यह दूषण दे कि सामान्य गोजाति में और घटादि कार्य में इन्द्रिय गोचर होना धर्म बराबर है अर्थात् जैसे गोत्व जाति इन्द्रियसे ग्रहण

की जाती है, वैसे ही घटादि कार्य भी। घटादि के समान इन्द्रिय ग्राह्य होने पर भी सामान्य जाति नित्य है। इस लिये घटादि के दृष्टान्त से और कार्यत्व के हेतु से शब्द को अनित्य कहना संदिग्ध है। क्योंकि नित्य अनित्य के साधर्म्य से संशय उत्पन्न होता है। इसी को संशयसम प्रतिषेध कहते हैं।

अब इसका खण्डन करते हैं :—

साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयो ऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥ १५ ॥

साधर्म्य से संशय होता है, जैसे स्थाणु और पुरुष में साधर्म्य होने से संशय उत्पन्न होता है, परन्तु वैधर्म्य से जब उनके विशेष धर्मों का भेद मालूम होता है, तब संशय निवृत्त होजाताहै। ऐसेही क्रिया जो शब्द का कारणहै, उससे उत्पन्न हुवे कार्य शब्दके अनित्य होने में वैधर्म्य के कारण जो सामान्य जातिसे उसकाहै सन्देह उत्पन्न नहीं होता। यदि वैधर्म्य के होने पर भी सन्देह माना जावे तो फिर सन्देह की कोई सीमा न रहेगी। अतएव शब्द के विशेष धर्म का ज्ञान होने से नित्यत्व की आशङ्का न रहेगी। क्योंकि जबतक स्थाणु और पुरुष के साधर्म्य का ज्ञान है, तभी तक संशय है, जहां इनके वैधर्म्य का ज्ञान हुवा, फिर संशय रह नहीं सकता। अतएव संशयसम प्रतिषेध अयुक्त है। अब प्रकरणसम का लक्षण कहते हैं—

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥१६॥

दोनों पक्ष की प्रवृत्ति की प्रक्रिया कहते हैं और वह नित्य और अनित्य के साधर्म्य से उत्पन्न होती है। जैसे किसी ने कहा कि अनित्य घटादि कार्य के सदृश होने से शब्द भी अनित्य है, इस पर प्रतिवादी ने कहा कि नित्य आकाश के सदृश आकृति और शरीर रहित होने से शब्द नित्य है। अर्थात् एक पक्ष अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द को अनित्य सिद्ध करताहै। दूसरा उसीको नित्य आकाश के साधर्म्य से नित्य सिद्ध करता है। इसी को प्रकरणसम दोष कहते हैं। अब इसका खण्डन करते हैं :—

प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १७ ॥

दोनों के साधर्म्य से प्रक्रिया की सिद्धि होने में दोनों में से एक

ही पक्ष सिद्ध होगा, दोनों तो सिद्ध हो ही नहीं सकते। दोनों में से जो सच्चा पक्ष है, उसका खण्डन प्रकरणसम नहीं कर सकता। क्योंकि जब तक अनुसन्धान से तत्त्व का अवधारण नहीं होता तभी तक प्रक्रिया रहती है, तत्त्व का निश्चय होजाने पर फिर प्रक्रिया नहीं रहती। इसलिये प्रकरणसम दोष अयुक्त है। (प्रश्न) यह कहना कि दोनों पक्षों में से एक ही पक्ष सत्य होगा, ठीक नहीं मालूम होता। सम्भव है कि दोनों पक्ष सच्चे हों। यदि कहो कि दोनों का सत्य होना असम्भव है, क्योंकि सत्य एक ही होता है तो दोनोंका मिथ्या होना तो सम्भवहै। क्योंकि मिथ्या अनेक होसकतेहैं ?। (उत्तर) यह नियम अविरुद्ध पक्षों में है, जहां परस्पर-विरुद्ध दो पक्ष हों अर्थात् एक कहता है कि आत्मा नित्य है और दूसरा कहता है कि आत्मा अनित्य है तो यहां एक ही पक्ष सत्य होगा। या तो आत्माका नित्य होना या अनित्य होना। यह नहीं हो सकता कि आत्मा नित्य भी हो और अनित्य भी। अब अहेतुसम का लक्षण कहते हैं :—

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥

हेतु जो साध्य को सिद्ध करने वाला है, तीनों काल में उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि यदि यह मानें कि हेतु साध्य से पहले वर्त्तमान था तो जब साध्य ही न था, तो वह हेतु किस का था और किसको सिद्ध करता था। यदि हेतु को साध्य के पश्चात् माना जावे तो हेतु के अभाव में वह साध्य किस का था, जिससे उसको साध्य कहा जावे। और यदि दोनों का एक साथ होना माना जावे, तो कौन साध्य है और कौन हेतु ? इसका निर्णय किस प्रकार होगा ? इसलिये हेतु की तीनों काल में असिद्धि होने से अहेतुसम दोष उत्पन्न होता है। इसका उत्तर देते हैं :—

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥

यह कहना कि हेतु की तीनों कालों में असिद्धि है, ठीक नहीं क्योंकि विना हेतु या कारण के कोई साध्य या कार्य सिद्ध नहीं होता जब तीनों काल में कार्यसिद्धि कारण की अपेक्षा रखती है, तब किसी काल में भी कार्य के लिये कारण का अभाव क्योंकर हो सकता है। और प्रतिवादी ने यह जो कहा था कि साध्य के अभाव में वह साधन किस का होगा ? इसका उत्तर यह है कि जो ज्ञेय है वही साध्य है, इसी का जानने वाला जो साधन है, उसको हेतु

कहते हैं और जहां होय है, वहीं उसका हेतु भी मौजूद है। फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिसेद्धव्याप्रतिषेधः ॥ २० ॥

जैसे तुम हेतु के तीनों काल में असिद्ध होने से उसका खण्डन करते हो, ऐसे ही तुम्हारे इस खण्डन का भी खण्डन किया जा सकता है, अर्थात् तुम हेतु के सिद्ध न होने से पहले उसका खण्डन करते हो या पश्चात् या हेतु और तुम्हारा खण्डन दोनों एक साथ होंगे? यदि कहो सिद्ध होने से पहले खण्डन करते हैं तो यह बिलकुल असङ्गत है, क्योंकि जो वस्तु मौजूद होती है, उसी का खण्डन किया जाता है और जो वस्तु ही नहीं, उसका खण्डन कैसा? यदि कहो कि हम सिद्ध होने के पश्चात् खण्डन करते हैं तो जब हेतु सिद्ध होगया तो तुम्हारे खण्डन करने से होता क्या है? और यदि कहो कि हेतु और हमारा खण्डन दोनों साथ २ रहेंगे तो यह हो नहीं सकता। दिन और रात एक साथ नहीं रह सकते। अतएव अहेतुसम प्रतिषेध अयुक्त है।

अब अर्थापत्तिसम का लक्षण कहते हैं:—

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥ २१ ॥

एक बात के कहने से दूसरी बात जो स्वयमेव जानी जाती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जहां इस अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि होती है, उसे अर्थापत्तिसम दोष कहते हैं। जैसे कोई कहे कि कि उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है। इस पर दूसरा कहता है कि स्पर्शरहित होने से शब्द नित्य है। अर्थात् जब घट के समान उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है तो अर्थापत्ति से यह जाना गया कि आकाश के समान अस्पृष्ट होने से शब्द नित्य है।

अब इसका खण्डन करते हैं:—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षानेरुपपत्तिरनु—
क्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चर्थापत्तेः ॥ २२ ॥

अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकान्तिक होने से अर्थापत्तिसम दोष खण्डित हो जाता है, क्योंकि उक्त से अनुक्त का खण्डन भी सामर्थ्य के अनुसार होता है। जैसे यह कहा जावे कि मनुष्य प्राणी है तो इस कहने से यह आशय नहीं निकलताकि मनुष्य के सिवाय और कोई प्राणी नहीं। ऐसे ही उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है इस

का अर्थापत्ति से यह तात्पर्य निकालना कि अस्पृष्ट होने से शब्द नित्य है, सर्वथा असङ्गत है। अतएव अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकान्तिक होने से अर्थापत्तिसम दोष ठीक नहीं अब अविशेषसम का लक्षण कहते हैं:—

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्—
सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥ २३ ॥

किसी एक धर्म के सादृश्य से दो पदार्थों को अविशेष (एक) ही मानना अविशेषसम दोष कहलाता है। जैसे शब्द और घट में उत्पन्न होना धर्म बराबर है, इस से इन को एक ही समझ लेना और अस्तित्व धर्म सब पदार्थों में बराबर है, इस लिये सब को एक ही समझ कर दूषण देना अविशेषसम प्रतिषेध है। अब इसका उत्तर देते हैं:—

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥२४॥

एक धर्म की कहीं तो प्राप्ति है, और कहीं अप्राप्ति, इस लिये अविशेषसम अनैकान्तिक होने से ठीक नहीं जैसे घट उत्पत्तिमान् है, शब्द भी उत्पन्न होता है, यहां तो प्राप्ति है। परन्तु घटस्पर्शवान्, शब्द नहीं, यहां अप्राप्ति है। अतएव अनैकान्तिक होने से अविशेषसम दोष ठीक नहीं। अब उपपत्तिसम का लक्षण कहते हैं:—

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

दोनों कारणों की उपलब्धि होने से उपपत्तिसम प्रत्यवस्थान उत्पन्न होता है। जैसे शब्द के अनित्य होने का कारण उस का उत्पन्न होना है तो उस नित्य होने का कारण शब्द का अस्पृश्य होना है। इन दोनों कारणों की उपपत्ति होने से उपपत्तिसम दोष उत्पन्न होता है। इसका उत्तर देते हैं:—

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥

जब कि प्रतिवादी दोनों के कारणों की उत्पत्ति को स्वीकार कर चुका है, फिर वह अनित्यता के कारण का खण्डन किस प्रकार कर सकता है। यदि परस्परविरोध से एक का निषेध माना जावै, तो विरोध दोनों में बराबर है। फिर दो में से एक की सिद्धि वह क्यों कर कर सकेगा ? अब उपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं:—

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥२७॥

यदि कोई शब्द के अनित्य होने में यह हेतु दे कि घट के समान प्रयत्नजन्य होने से शब्द अनित्य है, इस पर प्रतिवादी कहे कि बिना प्रयत्न के वृक्ष के पत्तों से वायु का स्पर्श होने पर जो शब्द होता है, वह भी अनित्य है। इस लिये वादी ने जो प्रयत्नजन्य होने का हेतु दिया है वह ठीक नहीं। इस प्रकार किसी नियत कारण के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि होने में उपलब्धिसम प्रत्यवस्थान होता है। अब इसका उत्तर देते हैं:—

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

जबकि दूसरे कारणों से भी उस धर्म का प्रगट होना सम्भव है इस लिये यह प्रतिषेध अयुक्त है क्योंकि प्रयत्न से उत्पन्न होने का प्रयोजन यह है, कि वह कारण से उत्पन्न होता है, चाहे चेतन के प्रयत्न से चाहे जड़ के, परन्तु उस का कारण अवश्य है और जिस का कारण है वह अनित्य है। इस से प्रयत्नजन्य होने का खण्डन नहीं होता और नहीं शब्द के अनित्यत्त्व का खण्डन होता है। और यह माना कि शब्द बोलने से उत्पन्न नहीं होता किन्तु पहले मौजूद था, वही प्रकट होता है, केवल आवरण दूर हो जाता है, ठीक नहीं। क्योंकि यदि कोई आवरण होता तो वह आंखों से दीखता है किसी आवरण के प्रत्यक्ष न होने से यह मानना पड़ता है कि शब्द उच्चारण से पहले नहीं था और जब उच्चारण से उत्पन्न हुआ तो वह अनित्य है। अब अनुपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं:—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ
तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥२९॥

प्रतिवादी कहता है कि यदि आवरण के प्रत्यक्ष होने से उसका अभाव मानते हो तो उसके अभाव के प्रत्यक्ष न होने से उसके अभाव का अभाव मानना चाहिये। आवरण के अभाव का अभाव सिद्ध होने से आवरण का भाव सिद्ध होजायगा। और जब आवरण का भाव सिद्ध होगया, तब शब्द भी नित्य सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार अभाव का अभाव मानकर दूषण देना अनुपलब्धिसम प्रत्यवस्थान कहलाता है। अब इसका उत्तर देते हैं:—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३० ॥

अभावके अभाव से यह हेतु निर्मूल है, क्योंकि अभाव भाव का होता है न कि अभाव का। जो वस्तु है उसकी उपलब्धि होती है,

और जो वस्तु ही कुछ नहीं, उसकी सर्वदा अनुपलब्धि है, फिर उसकी अनुपलब्धि क्या हो सकती है ? अतएव अभाव का अभाव न होने से अनुपलब्धिसम प्रत्यवस्थान ठीक नहीं।

फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥३१॥

आत्मामें विषयज्ञान के भावाऽभाव का मनके द्वारा प्रत्यक्ष होता है, इसमें मुझे सन्देह है, इसका मुझे निश्चय है, यह वस्तु है और यह नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा अनेक प्रकारके ज्ञानविकल्प होते हैं। परन्तु यह अनुभव किसी को नहीं होता कि मैं शब्द का आवरण देखता हुआ उसके अभाव का अभाव देखता हूं। अतएव आत्मसंवेदनीय ज्ञानों में न होने के कारण भी शब्द के आवरणकी कल्पना ठीक नहीं। अब अनित्यसमका लक्षण कहते हैं—

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गाद-नित्यसमः ॥ ३२ ॥

साधर्म्य से तुल्य धर्म की उत्पत्ति होने पर सब में अनित्यत्व के प्रसङ्ग से अनित्यसम प्रत्यवस्थान होता है। जैसे अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द अनित्य है, ऐसा कहने पर प्रतिवादी कहता है कि घट भी एक पदार्थ है, उसके साथ साधर्म्य होने से सब पदार्थ अनित्य हैं। इस प्रकार अनित्यत्व के प्रसङ्ग से दूषण देना अनित्य-सम प्रत्यवस्थान कहलाता है। अब इसका खण्डन करते हैं :—

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥

प्रतिवादी की दृष्टि में जब घट और शब्द का उत्पन्न होना रूप साधर्म्य शब्द के अनित्य होने में पर्याप्त नहीं अर्थात् घटके साधर्म्य से शब्द अनित्य सिद्ध नहीं होता, तब वह घट के साधर्म्य से सब पदार्थों को कैसे अनित्य सिद्ध करता है ? और सब में तो शब्द भी आगया। अतः प्रतिवादी का उक्त कथन प्रतिज्ञा हानि दोष से ग्रस्त है, अतएव अयुक्त है। फिर इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं :—

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः ॥३४॥

दृष्टान्त में जो साध्य का साधक धर्म है, हेतु कहलाता है और वह हेतु किसी के अनुकूल होता है और किसी के प्रतिकूल और

किसी के साथ उसका सामान्य सम्बन्ध होता है और किसी के साथ विशेष। सामान्यसे साधर्म्य और विशेषसे वैधर्म्यकी उत्पत्ति होती है। केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य का आश्रय लेकर किसी बात का प्रतिपादन या खण्डन करना ठीक नहीं, क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं। अतएव प्रतिवादी का केवल साधर्म्य से सबको अनित्य सिद्ध करना अयुक्त है। अब नित्यसम का लक्षण कहते हैं :—

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः॥३५॥

नित्य में अनित्य की और अनित्य में नित्य की भावना करने से नित्यसम प्रत्यवस्थान होता है। शब्द अनित्य है, यह जो वादी की प्रतिज्ञा है, इस पर प्रतिवादी कहता है कि शब्द में अनित्यपन नित्य है या अनित्य। यदि कहो कि नित्य है तो गुण के नित्य होने से गुणी भी नित्य होगा। और यदि अनित्य कहोगे तो अनित्यत्व के अनित्य होने से शब्द नित्य हो जायगा। इसका खण्डन करते हैं :—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः॥ ३६॥

शब्द की अनित्यता को स्वीकार करके फिर उसको नित्य बतलाना ठीक नहीं। क्योंकि नित्यत्व का अनित्यत्व हेतु नहीं होसकता और हेतु के अभाव में साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। उत्पन्न होकर शब्द के नष्ट होने से उसका अनित्य होना सिद्ध है, फिर यह प्रश्न करना कि शब्द में अनित्यत्व नित्य है वा अनित्य? नहीं बन सकता क्योंकि जब अनित्यत्व अभाव है तो फिर उसका भाव कैसा? अतएव नित्यसम दोष अयुक्त है। अब कार्यसम का लक्षण कहते हैं:—

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः॥ ३७॥

प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है इस प्रतिज्ञापर यह कहना कि प्रयत्नके कार्य अनेक हैं अर्थात् प्रयत्न के पश्चात् किन्हीं पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है, किन्हीकी अभिव्यक्ति। इसलिये प्रयत्नजन्य होने पर भी शब्द की उत्पत्ति ही क्यों मानी जाय, अभिव्यक्ति क्यों न मानी जाय। क्योंकि प्रयत्न के कार्य अनेक प्रकार के होते हैं। कार्य के अनेकत्व से कार्यसम दोष होता है।

इसका उत्तर देते हैं :—

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः॥३८॥

प्रयत्नजन्य होने से शब्द की उत्पत्ति और उसका कार्य होना सिद्ध है, जहां प्रयत्न के पश्चात् अभिव्यक्ति होती है, वहां आवरण अनुपलब्धि का कारण होता है, उस आवरण के हटाने से कार्य की अभिव्यक्ति होती है, परन्तु जहां उत्पत्ति होती है, वहां आवरण का अभाव है। शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती. क्योंकि उच्चारण से पहिले न कहीं शब्द था और न कोई उसका आवरण था। इसलिये कार्यसम प्रतिषेध अनैकान्तिक होने से अयुक्त है।

प्रतिवादी फिर कहता है:—

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥

खण्डन में भी वही दोष है। यदि अनेकान्त होने से कार्यसम अयुक्त है, तो उसका खण्डन भी एकान्त न होने से प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि वह किसी का खंडन करता है और किसी का मंडन। शब्द को अनित्य मानकर प्रयत्न के पश्चात् उत्पत्ति मानी गई है और अनित्य मानकर अभिव्यक्ति। दोनों में विशेष हेतु का अभाव है अब सर्वत्र इस दोष की अविव्याप्ति दिखलाते हैं:—

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥

यह अनकान्तिकत्व दोष जो कार्यसम में दिखलाया है, किन्तु सब जातिभेदों में इस की प्रसक्ति होती है, अतएव सब प्रमाण हैं। इनके प्रतिषेध में भी यही दोष प्रसक्त होता है:—

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥

जैसे प्रतिषेधों में अनैकान्तिकत्व दोष है, ऐसे ही प्रतिषेधों के खंडन में भी इस दोष की प्रसक्ति होती है। जैसे "कार्य होने से शब्द अनित्य है" यह पहला पक्ष है। "कार्य के अनेक प्रकार का होने से इसमें कार्यसम दोष है" यह दूसरा पक्ष है। "दोनों पक्षोंमें विभिचार दोष बराबर है" यह तीसरा पक्षहै। "खंडनके खंडनमें भी वही दोष है" यह चौथा पक्ष है। अब पांचवा पक्ष कहते हैं—

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्यप्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ ४२ ॥

खंडन अर्थात् दूसरे पक्ष को सदोष मानकर खंडन के खंडन में अर्थात् तीसरे पक्ष में भी दोष देना मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थान है जिसका वर्णन अगले आन्हिक में आवेगा। यह पांचवां पक्ष है।

अब इस आन्हिक के अन्तिम सूत्र से उपसंहार करते हैं:-

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोष इति ॥ ४३ ॥

अपने पक्ष को सिद्ध न करके प्रतिवादी के आक्षेप का खंडन करने से दोनों पक्ष असिद्ध रहते हैं। इस लिये जब कोई प्रतिवादी हमारे पक्ष में दूसपण दे तो हमारा कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि हम अपने पक्ष में उस दोष का न होना सिद्ध करें। यदि हम उस दूषणका उद्धार किये विना प्रतिवादीके दियेहुवे दोषमें दोष निकालने लगें तो मानो हमने उसके बतलाये हुवे दोष का अपने पक्ष में होना स्वीकार करलिया। जिस से दोनों पक्ष असिद्ध रहे। प्रतिपक्षी के दिये हुवे दूषण का उद्धार न करके उसके दूषण में दूषण निकालना मतानुज्ञा निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे किसी को किसी ने चोरी का दोष लगाया, अब यदि वह उसका निवारण न करके दोष लगाने वाले को भी चोर सिद्ध करने लगे तो ऐसा करने से चाहे वह अपने विपक्षी को चोर सिद्ध करदे परन्तु उसके अपने दोष का निवारण नहीं हो सकता। अपने दोष का निवारण तो तभी होगा, जबकि वह अपने पर लगाये अपवाद की असारता प्रमाणों से सिद्ध करेगा।

पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकं समाप्तम् ॥

अथ द्वितीयमाह्निकम् ।

पहले अध्याय में यह कह चुके हैं कि विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति इन दोनों के विकल्प से बहुत से निग्रह स्थान उत्पन्न होते हैं, निग्रहस्थान उन को कहते हैं कि जिन में पड़कर वादी और प्रतिवादी निगृहीत (परास्त) होजाते हैं। अतएव वादी और प्रतिवादी के लिये उनका जानना परमावश्यक है। अब इस आह्निकमें उन के भेद और लक्षण बतलाये जाते हैं:—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥ १ ॥

सब निग्रहस्थान २२ हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है:-

१-प्रतिज्ञाहानि २-प्रतिज्ञान्तर ३-प्रतिज्ञा विरोध ४-प्रतिज्ञासंन्यास ५-हेत्वन्तर ६-अर्थान्तर ७-निरर्थक ८-अविज्ञातार्थ ९-अपार्थक १०-अप्राप्तकाल ११-न्यून १२-अधिक १३-पुनरुक्त १४-अननुभाषण १५-अज्ञान १६-अप्रतिभा १७-विक्षेप १८-मतानुज्ञा १९-पर्यनुयोज्योपेक्षण २०-निरनुयोज्यानुयोग २१-अपसिद्धान्त और २२-हेत्वाभास। ये सब मिलकर २२ होते हैं। इनके लक्षण और उदाहरण पृथक् २ वर्णन करते हैं। प्रथम प्रतिज्ञाहानि का लक्षण कहतेहैं-

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानि ॥ २ ॥

अपने पक्ष के विरुद्ध प्रतिवादी जो हेतु या दृष्टान्त देता है, उसको स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञानि निग्रहस्थान है। क्योंकि परपक्ष को स्वीकार करना मानो अपने पक्ष को त्याग देना है। जैसे वादी ने प्रतिज्ञा की कि इन्द्रिय का विषय होने से घट के समान शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिवादी कहता है कि सामान्य जाति भी इन्द्रिय का विषय है और वह नित्य है, ऐसे ही शब्द भी नित्य हो सकता है। इस पर वादी कहने लगे कि यदि इन्द्रिय का विषय जाति नित्य है तो शब्द भी नित्य होगा। यहां वादी ने प्रतिवादी के पक्ष को स्वीकार कर लिया और अपने पक्ष को त्याग दिया। इसी को प्रतिज्ञाहानि कहते हैं :— अब प्रतिज्ञान्तर का लक्षण कहतेहैं:-

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ३ ॥

अपनी प्रतिज्ञा का खंडन होने पर उसका समाधान न करके किसी दूसरी प्रतिज्ञा को कर बैठना प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे वादी ने यह प्रतिज्ञा की कि इन्द्रिय का विषय होने से शब्द अनित्य है। इसका प्रतिवादी ने खंडन किया कि जाति इन्द्रिय का विषय होने से नित्य है। इस के उत्तर में यह कहनाकि जाति इन्द्रिय का विषय होने पर भी सर्वगत होने से नित्य है, परन्तु घट और शब्द सर्वगत नहीं, इस लिये वे अनित्य हैं,। इस कथन में प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान होता है। क्योंकि, पहली प्रतिज्ञा यह थी कि शब्द अनित्य है, उसे सिद्ध न करके वादी ने अब दूसरी और करदी कि शब्द सर्वगत नहीं, प्रतिज्ञा के साधक हेतु या दृष्टान्त होतेहैं, न कि प्रतिज्ञा। इसलिये यह प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान है।

अब प्रतिज्ञा विरोध का लक्षण कहते हैं:—

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥

प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध से प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान होता है। जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की कि द्रव्य गुण से भिन्न है, इस पर यह हेतु दिया कि रूपादि से अतिरिक्त किसी वस्तु की उपलब्धि न होने से। यहांपर प्रतिज्ञा और हेतु दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि यदि द्रव्य से भिन्न गुण है तो रूपादि से अतिरिक्त वस्तु अनुपलब्धि होना ठीक नहीं और जो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि हो तो द्रव्य गुण सेभिन्न है, यह कहना नहीं बन सकता दोनों में विरोध होने से प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान होता है।

अब प्रतिज्ञासंन्यास का लक्षण कहते हैं:—

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥ ५ ॥

जो प्रतिज्ञा की हो उसका खंडन होने पर उसको छोड़ देना प्रतिज्ञासंन्यास कहलाता है। जैसे किसी ने कहा कि इन्द्रिय का विषय होने से शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिवादीने कहा कि जाति भी इन्द्रिय का विषय है, परन्तु वह नित्य है। इस को सुनकर वादी कहने लगे कि कौन कहता है कि शब्द अनित्य है। यह प्रतिज्ञासंन्यासनामक निग्रहस्थान है।

अब हेत्वन्तर का लक्षण कहते हैं:—

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतोहेत्वन्तरम्

अपने पक्ष की पुष्टि में जो समान्य हेतु दिया गया हो उस के खण्डित होने पर विशेष हेतु की इच्छा करना हेत्वन्तर निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे किसी ने कहा कि घट परिमाणवान् होने से एक कारण वाला है, इस पर प्रतिवादी कहता है कि यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि अनेक कारण वाले पदार्थों का भी परिणाम देखने में आता है। इस पर प्रतिवादी का यह कहना कि आकारवान् होने से घड़ा एककारण वाला है। परिणाम वाला होना पहला हेतु था, उसका खण्डन होने पर वादी ने उसे छोड़ कर दूसरा हेतु आकार वाला होना दिया। बस पहले हेतु को छोड़ कर दूसरे हेतु की शरण लेना हेत्वन्तर निग्रहस्थान कहलाता है।

अब अर्थान्तर का लक्षण कहते हैं:—

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥

जिस बात के सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की गई हो, उसको प्रकृत अर्थ कहते हैं। प्रकृत अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ को जो उससे कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, कहना अर्थान्तर निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे किसी ने कहा कि कार्य होने से शब्द अनित्य है, इस पर यह कहना कि शब्द गुण है, आकाश में रहता है। इस कथन का प्रकृत अर्थ से कुछ सम्बन्ध न होने से यह अर्थान्तर निग्रहस्थान है। अब निरर्थक का लक्षण कहते हैं:—

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥८॥

जिन शब्दों का कोई अर्थ न हो, उनके उच्चारण को निरर्थक निग्रहस्थान कहते हैं, जैसे कोई यह प्रतिज्ञा करे कि शब्द नित्य है और हेतु यह देने लगे कि ज ब ग ड़ द श् होनेसे जबगडदश् यद्यपि वर्णक्रम निर्देश है, तथापि यहां हेतु में इसका कहना बिलकुल निरर्थक है। अतएव जिसमें हेतु के स्थान में निरर्थक शब्दोंका उच्चारण किया जाय, उसको निरर्थक निग्रहस्थान कहते हैं।

अब अविज्ञातार्थ का लक्षण कहते हैं :—

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥

वादी जिस बातको ऐसे शब्दों में कहे कि जिनको कोई समझ न सके अर्थात् जो प्रसिद्ध न हो, उनके अप्रसिद्ध होने के कारण या शीघ्र उच्चारण के कारण या कथित शब्दों के बह्वर्थ वाचक होने के कारण सभा और प्रतिवादी के तीनबार कहने पर भी यदि वादी का कहना समझ में न आवे, तो वादी अविज्ञात निग्रहस्थानमें फँस जाता है। क्योंकि इससे यह जाना जाता है कि वादी जिस अर्थ को कहता है उसे खुद नहीं जानता धूर्तवादी तो ऐसे शब्दोंको इसलिये कहता है, कि कोई उसे न समझकर उत्तर न देसके, परन्तु इसका फल उसके लिये उलटा होता है, क्योंकि वह आप अविज्ञातार्थरूप निग्रहस्थान में पड़जाता है। अब अपार्थक का लक्षण कहते हैं :—

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥ १० ॥

जिस कथन में पूर्वापर वाक्यों का कुछ सम्बन्ध या अन्वय न हो, उसे अपार्थक कहते हैं। जैसे दस घोड़े, छः अनार, मधु चर्म, सिंह आदि असम्बद्ध शब्दों का उच्चारण करना अपार्थक निग्रहस्थान कहलाता है। अप्राप्तकाल का लक्षण :—

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पांच वाक्योंके अवयव प्रथमाध्याय में जो कहे गये हैं, इनको क्रमपूर्वक न कहकर लौट पौट कर कहना अप्राप्तकाल निग्रहस्थान है। जैसे कोई पहले प्रतिज्ञा को न कहकर उदाहरण देने लगे या निगमन से पश्चात् हेतु कहने लगे वह अप्राप्तकाल निग्रहस्थान में पड़ जाता है।

न्यून का लक्षण कहते हैं :—

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ।

प्रतिज्ञादि जो पांच वाक्य के अवयव हैं, वादके समय उनमें से किसी को छोड़ देना सब से यथावसर काम न लेना न्यून नामक निग्रहस्थान है। क्योंकि पांचों अवयवों से अर्थ की सिद्धि होती है, इन में से यदि एक भी छूट जाय तो अर्थ में गड़बड़ हो जाती हैं।

अधिक का लक्षण कहते हैं :—

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥ १३ ॥

जहां एक ही हेतु और दृष्टान्त से साध्य सिद्ध होजाता है, वहां व्यर्थ अनेक हेतु और उदाहरणों को प्रस्तुत करना अधिक नाम निग्रहस्थान है। अब पुनरुक्त का लक्षण कहते हैं :—

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥१४॥

यदि किसी प्रयोजन से कोई बात दोवार या अधिक वार कही जावे तौ उसे अनुवाद कहते हैं। अनुवाद को छोड़कर किसी बात को दो वार यां अधिक वार कहना पुनरुक्त निग्रहस्थान हैं। अनुवाद और पुनरुक्त में क्या भेद है ?

अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः॥१५॥

किसी शब्द या वाक्य की विशेष आवश्यकता होने पर पुनः कहना अनुवाद कहलाता है-और विशेष अर्थ को जताने के लिये यह अनुवाद करना ही पड़ता है जैसे हेतु को कह कर प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन कहलाता है। यह हेतु और उदाहरण द्वारा प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये किया जाता है। अतएव पुनरुक्त नहीं कहलाता। पुनरुक्त किसे कहते है:—

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १६ ॥

एक अर्थ का जिस शब्द या वाक्य से बोध हो जावे, उसी अर्थ को फिर दूसरे शब्दों या वाक्यों से वर्णन करना पुनरुक्त कहलाता

है जो दो प्रकार का है। १-शाब्दिक पुनरुक्त, २-आर्थिक पुनरुक्त। जिस में बार २ विना प्रयोजन एक ही शब्दों का प्रयोग किया जावे वह शाब्दिक पुनरुक्त है। जैसे द्रव्य द्रव्य गुण गुण। जिसमें किन्हीं शब्दों से एक अर्थ कह दिया गया हो फिर दूसरे शब्दों में उसी अर्थ को कहना आर्थिक पुनरुक्त है। जैसे किसी ने कहा जो उत्पन्न होता है वह अनित्य है, इस कहने से यह अपने आप सिद्ध हो गया कि जो उत्पन्न नहीं होता है वह अनित्य है, इस अर्थ से सिद्ध हुई बात को फिर कहना आर्थिक पुनरुक्त है, इसी को अर्थापत्ति भी कहते हैं। अब अननुभाषण का लक्षण कहते हैं:—

विज्ञातस्यपारिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम्

जाने हुवे विषय को सभा से तीन बार कहे जाने पर भी जो प्रकट नहीं करता, वह अननुभाषण नामक निग्रहस्थान में पड़ता है, क्योंकि जब भाषण ही न करेगा, तो अपने पक्ष का मण्डन तथा प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन क्या करेगा ?

अब अज्ञान का लक्षण कहते हैं:—

अविज्ञातञ्चाज्ञानम् ॥ १८ ॥

प्रतिपक्षी के तीन बार जतलाये जाने पर भी जो किसी विषय को नहीं समझता, वह अज्ञानरूप निग्रहस्थान में पड़ता है। क्यों कि विना जाने न स्वपक्ष का मण्डन और न परपक्ष का खण्डन हो सकता है। अब अप्रतिभा का लक्षण कहते हैं:—

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १९ ॥

प्रतिपक्षी के आक्षेप का किसी कारण से उत्तर न दे सकना अप्रतिभानामक निग्रहस्थान कहलाता है। अर्थात् समय पर आक्षेप का उत्तर भय, प्रमाद या विस्मृति के कारण न देना अप्रतिभा है। अब विक्षेप का लक्षण कहते हैं:—

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ २० ॥

कार्य के बहाने से प्रकृतवाद को टाल देना विक्षेप नामक निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे इस समय मुझे अमुक आवश्यक काम करना है, उसको पूरा करके फिर बात चीत करूंगा। इत्यादि कार्य के बहाने से वाद को बन्द कर देना विक्षेप निग्रहस्थान है। मतानुज्ञा का लक्षण कहते हैं:—

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ।२१।

अपने पक्ष में प्रतिवादी ने जो दोष लगाया है, उसका उद्धार न करना मानो उसको स्वीकार करना है। ऐसा न करके जो दूसरेके

पक्ष में वही दोष आरोपण करता है, इसको मतानुज्ञा कहते हैं। दूसरे के दोष सिद्ध करने से अपना दोष निवृत्त नहीं होता, वह तो प्रमाण और युक्ति से उसका निषेध करने पर ही निवृत्त होता है। अब पर्यनुयोज्योपेक्षण का लक्षण कहते हैं :—

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥२२॥

जो निगृहीत होगया है, अर्थात् किसी निग्रहस्थान में पड़ गया है, उसको न बतलाना कि अमुक निग्रहस्थान में पड़ा है, इस को पर्यनुयोज्योपेक्षण नाम निग्रहस्थान कहते हैं। क्योंकि अपनी निर्बलता को स्वयं कोई नहीं कहता, जब परपक्षी भी उसको नहीं बतलाता तो यही समझा जायगा कि वह वाद के नियमों से अनभिज्ञ है। अब निरनुयोज्योपेक्षण का लक्षण कहते हैं :—

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः

जो किसी निग्रहस्थान में न आया हो, उसको भी निगृहीत बतलाना निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है।

अब अपसिद्धान्त का लक्षण कहते हैं :-

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥२४॥

किसी सिद्धान्त को मानकर या किसी पक्ष को स्थापन करके फिर उसके विरुद्ध कहना या उस पक्ष का खण्डन करना अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे इस सिद्धान्त को मान कर कि सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं होता, कोई यह कहने लगे कि जो पहले नहीं था, वह होगया और जो है वह न रहेगा या कारण के विना कार्य हो जाता है। तो वह अपसिद्धान्त रूप निग्रहस्थान में पड़ जाता है। अब हेत्वाभासों को कहते हैं:-

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २५ ।

पहले अध्याय के दूसरे आन्हिक में ५ हेत्वाभासों का वर्णन किया गया है, जिनके नाम ये हैं १-सव्यभिचार २-विरुद्ध ३-प्रकरणसम ४-साध्यसम और ५-कालातीत। इनके लक्षण वहीं पर दिखलाये जा चुके हैं इसलिये यहां पर वर्णन करनेकी आवश्यकता न समझ कर सूत्रकार ने केवल निर्देश कर दिया है। इन पांचों को मिलाकर कुल २६ निग्रहस्थान होजाते हैं।

❀ इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ❀

* समाप्तश्चायं ग्रन्थः *